

- ० पुस्तक
जैनदर्शन स्वप्न और विज्ञेयण
- ० आशीर्चन
राजस्थान केमरी श्री पुष्कर मुनि जी म०
- ० लेखक
देवेन्द्र मुनि, ग्राम्ही 'साहित्यरत्न'
- ० पृष्ठ : ६५२
- ० प्रथम प्रवेश
सितम्बर १९७५ (पर्युषणपर्व)
२५वाँ महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष
- ० मूल्य
तीस रुपये
- ० सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
- ० प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
ग्राम्ही मर्कल उदयपुर (राज०)
- ० मुद्रण व्यवस्था
श्रीचन्द मुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क, आगरा-४

प्रकाशकीय

‘जैनदर्शन’ स्वयं जीर विचार। ताम्र मय गुण यः १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थगत का प्रकाशन ऐसे परम पवित्र स्वर्णावसर के उपलक्ष्य में हो रहा है जो समग्र विश्व के लिए गौरवपूर्ण अवसर है। भगवान महावीर की पञ्चमीसूत्री निर्वाण शताब्दी मनाने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। विविध प्रकार का साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय अपने विशुद्ध साम्प्रदायिक परम्परा की दृष्टि में श्रेष्ठ प्रकाशन मंदा में करता रहा है। उस पुनीत अवसर पर वह अधिक जागरूक रहा। उसने ‘भगवान महावीर एक अनुशीलन’ जैसा शोध-प्रधान ग्रन्थ प्रदान किया, जिसकी मूर्धन्य मनीषियों ने मुक्त कंठ में प्रशंसा करते हुए लिखा कि निर्वाण शताब्दी का यह सर्वश्रेष्ठ महावीर जीवन विषयक प्रकाशन है। उसके अतिरिक्त ‘भगवान महावीर की सूक्तिर्पा, महावीर जीवन दर्शन, दिव्य पुरुष, स्वाध्याय-मुधा’ आदि अनेक श्रद्धास्मिन्ध उपहार दिये। उम्मी लटी की कडी में ही प्रस्तुत ग्रन्थराज भी है।

लेखक की कलम से

दर्शन मानव का दिव्य चक्षु है। मानव अपने चरम लक्ष्य में जिसे नहीं देख सकता है, उसे वह दर्शन चक्षु में देखता है। दर्शन का अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि।

विश्व के स्वरूप का विवचन करना, विश्व में चित् और जनिवृत्त मत्ता का क्या स्वरूप है, उन मत्ताओं का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उन सभी प्रश्नों का गहराई में सही अनुसंधान करना दर्शनशास्त्र का एक मात्र लक्ष्य रहा है।

दर्शन की प्राग अत्यधिक प्राचीन है। विश्व के इतिहास में भारत और यूनान ये दो देश दर्शन के आविष्कारक रहे हैं। विश्व के सभी दर्शन भारत और यूनान में प्रभावित रहे हैं। पूर्व के जितने भी दर्शन हैं, उनको भारत ने प्रभावित किया है और पश्चिम के सभी दर्शन यूनान में प्रभावित हुए हैं।

भारत के सभी दर्शनों का मुख्य त्रेय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना है। चेतन और परम चेतन के स्वरूप को जिस समग्रता और व्यग्रता के साथ भारतीय चिन्तकों ने समझने का प्रयास किया है, उनका यूनान के दार्शनिकों ने नहीं। यह गत्य है कि यूनान के दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उनकी प्रतिपादन शैली सुन्दर है किन्तु वे उनका विशद और स्पष्ट वर्णन नहीं कर सके हैं। यूरोप का दर्शन आत्मा का दर्शन न होकर जट प्रकृति का दर्शन है। भारतीय चिन्तकों ने प्रकृति के स्वरूप का विश्लेषण किया है किन्तु उनका अधिक मुकाब आत्मा की ओर है। प्रकृति का जो सूक्ष्म विश्लेषण है, वह भी आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए है। भारतीय दर्शन का आत्मा की ओर लगाव होने पर भी उसने कभी भी जीवन और जगत् की उपेक्षा नहीं की है।

दर्शन विचार और तत्त्व पर आधृत है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा मत्ता और परम मत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है और फिर वह उसकी प्रभावता पर आस्था रखने के लिए उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में आस्था और तत्त्व का मधुर समन्वय है किन्तु पश्चिमी दर्शन में बौद्धिक और मैथान्तिक दृष्टि की ही प्रमुखता है। पश्चिमी दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन पर आधृत है, वह आप्त प्रमाण की उपेक्षा करता है। भारतीय दर्शन चेतन और परम चेतन स्वरूप की अन्वेषणा करता है, उसका एकमात्र लक्ष्य साक्षात् प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन की यदि कोई भी विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है तो वह मोक्ष चिन्तन है।

परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी राजस्थानके मरी भगिनरत्ना गद्गर्भः श्री परम मुनि जी महाराज ने मुझे आदेश पदान किया कि " तमण भगवान महावीर जी प तीम निर्वणि जताव्दी पर अन्य गन्थो के साथ तुझे जैनदर्शन पर भी एक मुन्दर गन्थ लिख हे । " पूज्य गुरुदेव श्री जी आज्ञा का पालन करना मेरा उत्तम ऽ, गुरुदेव श्री के निर्देश मे मैंने सन् १९७१ मे बम्बई गादावाडी चानुमणि मे लिखना प्रारम्भ किया । जब समय मिला अव्ययन के साथ लिखता रहा । सन् १९७२-१९७३ मे जो १५० ओ अजमेर वर्षावास मे 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' गन्थ के लेखन मे अन्यत्र व्यस्त होने से इस ग्रन्थ का लेखन स्थगित रहा । सन् १९७४ के अहमदाबाद वर्षावास मे प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रथम पूर्ण करने का संकल्प किया गया और वह संकल्प अब पूर्ण हो जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है । उनकी अपार कृपादृष्टि और आशीर्वाद मे मेरा पय सदा आलोकित रहा है, ग्रन्थ मे जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह श्रद्धेय गद्गुरुवर्य की ही कृपा का प्रतिफल है ।

परमादरणीया प्रतिभामूर्ति मातेज्वरी महामती श्री प्रभावती जी म व ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता जिनकी सतत प्रेरणा और हार्दिक शुभाशीर्वाद से मैं ग्रन्थ को पूर्ण कर सका हूँ ।

सेवामूर्ति श्री रमेश मुनि शास्त्री, राजेन्द्र मुनि शास्त्री और दिनेश मुनि जी की निरन्तर सेवा सहयोग के कारण मैं अपनी गति मे प्रगति कर सका हूँ, अतः उसका अकन भी अस्थान न होगा ।

जैन जगत् के यशस्वी लेखक प प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक सशोधन किया तदर्थ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ, जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान दलमुखमाई मालवणिया ने आवश्यक सुझाव दिये हैं । अतः उनके स्नेहपूर्ण सद्ब्यवहार को भी मैं नहीं भूल सकता । साथ ही स्नेह मौजन्यमूर्ति श्रीयुत श्रीचन्द्र जी सुराना को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि मे सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास और गहराईपूर्वक प्रूफ सशोधन कर मेरे श्रम को कम किया ।

उस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे परम विदुषी महामती केसरदेवी जी की मुष्टिप्या साध्वी मजुश्री जी एवं विजयश्री जी ने पूर्ण सहयोग दिया है । मैं उनका स्नेह महत्कार विस्मृत नहीं कर सकता ।

मैंने ग्रन्थ मे जनेर लेखकों के ग्रन्थों का उपयोग किया है उन सभी ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का मैं श्रेणी हूँ ।

आशा है मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा ।

गादडी मढा
पुना (महाराष्ट्र)
दि १५ अगस्त १९७५

—देवेन्द्र मुनि

विज्ञान-विभाग - ३० दृष्ट-आत्मवाद - ३३, प्राणमय-आत्मा - ३०, मनोमय-
 आत्मा - ३१, ज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा - ३३, चिदात्मा - ३४, जन्मा-
 त्मा - ३६, वैद्वहृष्टि में जीव का स्वरूप - ३७, जैनहृष्टि के साथ मान्य-
 भाव की तुलना - ३८, न्याय वैशेषिक दर्शन के साथ तुलना - ६१, बौद्धहृष्टि में
 जीव का स्वरूप - ६२, अद्वैतवाद विचारधारा—प्रतिविम्बवाद, अवच्छेदवाद,
 अविच्छेदवाद - ६३, जीव का परिमाण - १०६, जीव का लक्षण - १०७,
 जीव की शक्तियाँ - १०८, जल और आत्मा - १०९, विचारों का शरीर
 का स्वरूप - ११०, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध - ११०, आधुनिक विज्ञान
 के अनुसार - १११, जीव का परमाणु क्या है ? - ११५, क्या उन्मियाँ और
 जीव एक ही हैं ? - ११६, आत्मा के अमर्याद पदों - ११७, आत्मा पर
 विचार - ११८, आत्मा की मतिवृत्ति - १२०, जीव विभाग

नमः सादः एक श्रवण

000-200

विद्याभरण श्री विनि -२०६, नय विमान या आधाय -२०७, दां पण्यगण
-२०८, नैम नय -२०९, नैमयामान -२१०, मप्रहनय -२११, मप्रहानाम
-२१२ अक्वहागनय -२१३, अक्वहागनाम -२१४, श्रुतमुवनय -२१५,
श्रुतमुवानाम -२१६, शब्दनय -२१७, शब्दनयामास -२१८, सममित्तनय
-२१९ सममित्तनयामास -२२०, एवभूतनय -२२१, एवभूतनयामास
-२२२, नया या एव द्वय मे मध्यनय -२२३, आख्यात्मि दृष्टि मे नय
नय निम्नन -२२४ प्रमाण और नय -२२५, इत्यादि और पर्यायिक
दृष्टि -२२६ इत्यादि और प्रवेशादि दृष्टि -२२७, व्यावहारिक और
मेवार्थिक दृष्टि -२२८, अक्षर और शब्दनय -२२९, नय के प्रकार -२३०,
नय प्रमाण या उपप्रमाण ? -२३१, मुनय और द्वय -२३२, जैनदर्शन की
प्रमाणता या महत्त्व -२३३ ।

निक्षेपवाद : एक विश्लेषण

निक्षेप की परिभाषा -२८० निक्षेप का अर्थ -२८१ निक्षेप का आधार -२८२ निक्षेप पद्धति की वर्गीकरण -२८३ नक्ष और निक्षेप -२८३ नाम निक्षेप -२८३ व्युत्पत्ति निक्षेप -२८४ ब्रह्म निक्षेप -२८५ भाव निक्षेप -२८६ ।

नयवाद : एक अध्ययन

विचारणा का निमित्त -३२६ नय विभाग का आधार -३२७ दो परम्पराएँ -३२८ सैगम नय -३२९ सैगमाभास -३३० मयहनय -३३३ मयहानाम -३३३ वावहानय -३३६ वावहारानाम -३३७ मल्लनय -३३८ मल्लनानाम -३३९ गद्वनय -३३९ गद्वनयानाम -३४० सममिहानय -३४० सममिहानयानाम -३४० तवभूतनय -३४० एवभूतनयानाम -३४० सगे का एक दुसरे से सम्बन्ध -३४० आध्यात्मिक दृष्टि में नय का निम्न -३४१ पमान और नय -३४३ ब्रह्माधिक और पर्यायाधिक दृष्टि -३४३ ब्रह्माधिक और पर्यायाधिक दृष्टि -३४५ व्यावहारिक और सैगमिक दृष्टि -३४७ अयनय और गद्वनय -३४८ नय के प्रकार -३४८ नय समान या असमान ? -३४९ मूल्य और दुर्लभ -३५० जैनदर्शन की

पंचम खंड : जैनदर्शन और विश्वदर्शन ५०३-५४४

विश्वदर्शन - एक अनुचिन्तन

५०३-५

भारतीय दर्शन- ५०५, वैदिक दर्शन- ५०६, चार्वाक दर्शन- ५०६, जैन दर्शन- ५०७, बौद्ध दर्शन- ५०७, सांख्य और योग दर्शन- ५०८, न्याय और वैशेषिक दर्शन- ५०९, मीमांसा और वेदान्त दर्शन- ५०९, यूनानी दर्शन- ५१०, अरबी दर्शन-५१३, सूफी सम्प्रदाय- ५१४, यूरोपीयदर्शन- ५१५, भारतीय दर्शन में नया युग- ५१७ ।

जैनदर्शन और बौद्धदर्शन

५१९-५२३

जैन और बौद्धदर्शन में समानता- ५१९, तत्त्व व्यवस्था- ५१९, निर्वाण- मोक्ष- ५२१, निर्वाण का मार्ग- ५२१, प्रमाणवाद- ५२२, नित्या- नित्यवाद-५२३ ।

जैनदर्शन और सांख्यदर्शन

५२४-५३०

जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन

५३१-५३६

विश्व- ५३१, प्रमाणवाद- ५३२, आदर्शवादी-यथार्थवादी- ५३३, द्वैतवादी- अद्वैतवादी- ५३४ साधना का मार्ग- ५३५,

जैनदर्शन की विश्व को देन

५३७-५४४

परिशिष्ट ५४५-६३५

संस्कृत

५४३

संस्कृतमहाभाष्य

५४५

संस्कृत महाभाष्य

६०८

जैन दर्शन में सांख्यिक या सांख्यिक

६१६

संस्कृत [संस्कृत महाभाष्य एक अनुशीलन]

६२३



दर्शन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

- ० दर्शन
- १ दर्शन की व्युत्पत्ति
- २ दर्शन की विभिन्न शाखाएँ
- ३ दर्शन की विशेषताएँ
- ४ दर्शन की प्रमुख समस्याएँ
- ५ दर्शन की प्रमुख विचारधाराएँ
- ६ दर्शन की प्रमुख विचारधाराएँ
- ७ दर्शन की प्रमुख विचारधाराएँ

दर्शन की उत्पत्ति

मानव चिन्तनशील प्राणी है । चिन्तन मानव का आदि स्वभाव है । वह प्रत्येक वस्तु पर गहन चिन्तन-मनन करता है । जब से मानव ने चिन्तन-मनन प्रारम्भ किया तब से दर्शन का प्रारम्भ हुआ । प्रस्तुत नियम के अनुसार दर्शन उतना ही पुरातन है जितना मानव स्वयं । तथापि दर्शन की उद्भूति के सम्बन्ध में दार्शनिक विद्वानों में विभिन्न मत रहे हैं । जिनको जैसी परिस्थिति या वातावरण मिला उसके अनुरूप उन्होंने दर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चिन्तन किया । किसी ने तर्क को प्रधानता दी, तो किसी ने आश्चर्य को, किसी ने सन्देह को, तो किसी ने बुद्धि-प्रेम को, किसी ने बाह्य जगत को तो किसी ने आत्म तत्त्व को । इस मत-भिन्नता के मूल में बाह्य परिस्थितियाँ भी कार्य करती रही हैं ।

तर्क

कितने ही दार्शनिकों का यह अभिमत है कि दर्शन का उद्गम स्थान तर्क है । 'किं तत्त्वम्' उस तर्क से ही दर्शन का प्रारम्भ होता है । दर्शन से पूर्व श्रद्धा का युग था । श्रद्धा युग में आत पुरुषों की वाणी को मात्र श्रद्धा की दृष्टि में माना जाता था । श्रद्धाशील लोग यह समझते थे कि यह हमारे आराध्य देव के मुँह से उच्चरित है अतः उसे हमें विना सकोच के मानना चाहिए । यह महावीर की वाणी है, यह बुद्ध का उपदेश है । यह मनु की निष्ठा है । जिसकी जिसके प्रति श्रद्धा थी उसके वचन उसके लिए शास्त्र बन गये ।

दर्शन ने जो यह रूप हमारे सामने रक्खा है, वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

दर्शन और फिलोसोफी में अन्तर

दर्शन और फिलोसोफी (Philosophy) यद्यपि ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं किन्तु दोनों शब्दों के अर्थ में बहुत अन्तर है। 'दर्शन' शब्द आत्म-ज्ञान की ओर संकेत करता है, तो 'फिलोसोफी' शब्द कुशल कल्पनाशील विज्ञो के मनोरंजन की ओर संकेत करता है, चूंकि विश्व की विचित्रता को निहार कर समुत्पन्न होने वाली आश्चर्य भावना को शान्त करने हेतु 'फिलोसोफी' का उद्भव हुआ है। किन्तु दर्शन दैहिक, दैविक और भौतिक दुखों से चिन्तित होकर उसके मूल के उच्छेदन हेतु चिन्तन करता है और अपने लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग खोजता है। यही कारण है कि 'दर्शन' शब्द अधिक गम्भीरता और विशालता को लिए हुए है। पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा भारतीय दर्शन लोक-व्यवस्था और लोक-व्यवहार तक ही सीमित न रहकर अध्ययन के भव्य-भावों तक पहुँचने का प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रयास करता रहा है। उसका यह प्रयास माधना या जीवनोन्नति का साधन कहा गया है। किन्तु 'फिलोसोफी' शब्द इतने विराट भाव और उदात्त भावना को अभिव्यक्त नहीं कर पाता।

दर्शन और विज्ञान

मानवतावाद के नकाचीध में पनपने वाले व्यक्तियों की आस्था यह दर्शन के प्रति जितनी है, उम्मे कहीं अधिक विज्ञान के प्रति है। उम्मे मूल कारण यह है कि सामान्यतः मानव का आकर्षण मदा वास्तविकता की ओर रहा है, आध्यात्मिकता की ओर बहुत कम। दर्शन और विज्ञान दोनों मनुष्य तक पहुँचने के मार्ग हैं। दर्शन ज्ञान शक्ति के द्वारा मनुष्य को वास्तविकता से जोड़ता है, तो विज्ञान प्रयोग शक्ति के द्वारा करता है। दर्शन चिन्तन प्रदान मार्गात्मी की उपज है। वह अनन्त मनुष्य के जीवन में निरन्तर गम्भीर रहने में सक्षम नहीं है, क्योंकि विज्ञान के द्वारा ज्ञान के स्वरूप में क्या नहीं जा सकता। किन्तु विज्ञान के द्वारा ज्ञान का नदी-मदी प्रयोग द्वारा स्वरूप में दिखाना संभव नहीं है। विज्ञान की सामग्रीय न रहकर दर्शन के समान जन-जन के

है। प्रकृति के साथ आत्मा और परमात्मा को भी जानता है। एक भी वस्तु दर्शन की सीमा के बाहर नहीं रह सकती। ज्ञान-विज्ञान की एव बुद्धि की जितनी भी शाखाएँ हों वे सभी दर्शन के अन्तर्गत आ जाती हैं।

वर्तमान युग के महान् चिन्तक बर्ट्रेंड रसेल लिखते हैं—“विज्ञान के दो प्रयोजन हैं—एक तो यह कि अपने क्षेत्र में जितना जाना जा सके उतना ज्ञान लिया जाये और दूसरा यह कि जो कुछ ज्ञान लिया गया है उसे कम से कम सामान्य नियमों में गूँथ लिया जाय।” रसेल के प्रस्तुत कथन में विज्ञान की सीमा को दो भागों में विभक्त किया गया है—प्रथम विभाग में विज्ञान के अध्ययन की सामग्री की ओर संकेत किया गया है और दूसरे विभाग में बुद्धिजन्य अन्य व्यवस्था की ओर।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि विज्ञान जितनी भी सामग्री एकत्रित करता है उसका आधार अवलोकन है। अवलोकन के अभाव में वह सामग्री को एकत्रित नहीं कर सकता। दर्शन के समान केवल चिन्तन से विज्ञान का कार्य नहीं हो सकता। वह प्रत्येक प्रयोग को अवलोकन के परीक्षण-प्रस्तर पर रखता है। यदि अन्य शब्दों में कहें तो विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव को महत्त्व देता है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वस्तु, विज्ञान की दृष्टि से सत्य है। मानव उन्निद्रियों की सहायता से जितना अनुभव करता है, वही विज्ञान का विषय बनता है। वह आत्म-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रतीतिकरण में विश्वास नहीं रखता। विज्ञान का यही प्रयास है कि अनुभव के आधार पर जितना ज्ञान प्राप्त हो जाय, उसे वह प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह अपने अभीष्ट विषय को लक्ष्य में रखकर प्रयोग का उपयोग या तर्कों के सहयोग से जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह विज्ञान की प्रथम भूमिका है। दूसरी भूमिका में बुद्धिजन्य व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। इस भूमिका में प्राप्त ज्ञान की सीमा है, उसके आधार पर वह निर्णय लेता है। यही प्रारम्भ होता है। प्रयोग का अर्थ नियमित अवलोकन है। प्रयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, तो यह समझ लिया जाता है कि प्रयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार विज्ञान के नियमों का निर्माण होता है। (१५५) कर्मादी ग्यन है।

लिए श्रेयस्कर है, वह प्रतिफल-प्रतिक्षण इस विचार पर मन्थन भी करता है और नारे भी लगाता है कि सदा सत्य बोलना चाहिए किन्तु व्यवहार में उसे प्रश्रय नहीं देता है तो क्या उस दर्शन का मूल्य हो सकता है ? जब तक दर्शन धर्म में परिणत नहीं होगा तब तक वह व्यर्थ है। कितना भी विमल विचार क्यों न हो, जब तक उसके अनुरूप आचरण नहीं होगा, उस विचार की क्या उपयोगिता है ? बिना धर्म के दर्शन केवल शब्दों का इन्द्रजाल है। धर्म का सम्बल प्राप्त करके ही दर्शन में दिव्यता आती है।

दर्शन रहित धर्म भी पाखण्ड है। जिग आचरण के मूल में विवेक की जगमगाती ज्योति नहीं है वह आचार अनाचार है। आचार का मूल विचार है। विचार की सुदृढ नींव पर ही आचार का भव्य भवन खड़ा हो सकता है। बिना विचार का आचार केवल अन्धानुकरण है। उसे यह ज्ञात नहीं कि प्रस्तुत क्रिया की जीवन में क्या उपयोगिता है ? उसका क्या लक्ष्य है ? इस प्रकार धर्म को दर्शन की ओर दर्शन को धर्म की मदा आवश्यकता रही है। धर्म और दर्शन परस्परपेक्षी तत्त्व है। मानव-जीवन की सरिता का एक तट दर्शन है तो दूसरा तट धर्म है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व व्यर्थ है। दर्शन ज्ञान की प्रक्रिया है तो धर्म क्रिया की। क्रियाहीन-ज्ञान अथवा ज्ञानहीन-क्रिया दोनों ही जीवन के लिए भयावह हैं, अतः दोनों का मधुर समन्वय ही जीवन में यथार्थ दृष्टि प्रदान कर सकता है।

दर्शन और जीवन

दर्शन का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह एक प्रश्न है। उत्तर में निर्दिष्ट है कि मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह निरन्तर चिन्तन करता रहता है। चिन्तन मानव का विशिष्ट गुण है, जिससे मानव दार्शनिक बनता है। चिन्तन और दर्शन का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। मानव जब तक चिन्तन करता रहता तब तक मानव-जीवन में दर्शन का अस्तित्व बना रहेगा। यह सम्बन्ध नहीं कि मानव के जीवन में चिन्तन दूर हो जाय। जहाँ पर चिन्तन दूर हो वहाँ पर दर्शन अवश्य ही रहेगा। माराण यह है कि दर्शन के अभाव में मानव कदापि सम्भव नहीं है। जब हम दार्शनिक बनते हैं तो हमें यह ज्ञान होता है कि मानव-चिन्तन ही मानव-जीवन है। मानव ने सर्वप्रथम अपने जीवन पर

सम्पूर्ण आगम साहित्य अनग-प्रविष्ट है। दूसरे शब्दों में, यो भी कहा जा सकता है कि गणधरो के प्रश्न पर भगवान ने जो त्रिपदी—उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य का उपदेश दिया उसके आधार में जिस आगम साहित्य की रचना हुई वह अग-प्रविष्ट है और भगवान के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरो ने जो रचना की वह अनग-प्रविष्ट है।

आगमों में मुख्य स्थान द्वादशांगी का है। वह स्वतः प्रमाण है और जेप आगम परतः प्रमाण है अर्थात् द्वादशांगी में जो अविरुद्ध है वे प्रमाण हैं और जेप अप्रमाण है।

अनग-प्रविष्ट आगम को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। कितने ही स्थविरो के द्वारा रचित हैं और कितने ही निर्यूद्ध हैं। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गये हैं, वे निर्यूद्ध कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का दूसरा श्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूद्ध आगम हैं। आर्य ण्यम्भव ने अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्यूहण किया था^१ जेप आगमों के निर्यूहक श्रुत केवली भद्रबाहु हैं। प्रजापता के रचयिता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य रक्षित और नन्दी के देव वाचक हैं।

भाषा की दृष्टि से आगम साहित्य को दो युगों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम युग ई० पू० ८०० से ई० १०० तक का। उस समय जिन आगमों की रचना हुई उन आगमों की भाषा अर्द्ध-मागधी है। द्वितीय युग ई० १०० से ४०० तक का है, उस समय रचित या निर्यूद्ध आगमों की भाषा जैन-मगधी पातन है।

वर्तमान में आगम के जो संस्करण उपलब्ध हैं वे प्रस्तुत रूप में देवद्विगणी क्षमाश्रमण के समय के हैं। उसके पूर्व आगम-साहित्य लिपिवद्ध नहीं किया गया था। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ, उसके पश्चात् पाटलीपुत्र में आगम वाचना हुई। 'आगम संकलन' का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य हुआ। उस समय दो वाचनाएँ हुई—एक मथुरा में और दूसरी वल्लभी में। मथुरा में जो वाचना हुई थी वह आर्य ग्गन्दिल के नेतृत्व में हुई थी और वल्लभी में जो वाचना हुई वह आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में हुई। वे वाचनाएँ मथुरी वाचना और वल्लभी वाचना के नाम से विश्रुत हैं। इन तीन वाचनाओं में आगम लिखे नहीं गये थे। आगम लिखने का कार्य वीर निर्वाण के १८० वर्ष के पश्चात् देवद्विगणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में वल्लभी में हुआ। उस समय तक बहुत से श्रमण दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयों से काल-कवलित हो गये। बहुत सारा श्रुत विरमृत हो गया था, अतः जो कण्ठस्थ था, उसे गुना गया। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति में उसका संकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ किया।

आगमों का जो वर्तमान रूप है वह देवद्विगणी के समय का संकलित है। उन्होंने अग और अगवाह्य दोनों का संकलन और सम्पादन किया। इस लिए वे आगमों के वर्तमान रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।^१

आगमों में दार्शनिक चर्चाएँ

टीकाओं में दार्शनिक दृष्टि का विशेष उपयोग किया गया है। आचार्य मलयगिरि की टीकाओं में भी वही बात है। उन्होंने भी यत्र-तत्र दार्शनिक चर्चाएँ की हैं।

आगम साहित्य ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोष है तथापि उसमें दार्शनिक दृष्टि उतनी प्रमुख नहीं रही है जितनी आगमेतर साहित्य में रही है। इसका मूल कारण यह है कि आगम साहित्य मुख्य रूप से साधको के लिए है। साधको को उद्बोधन देने के लिए अनेक स्थलों पर पुनरावृत्तियाँ भी हुई हैं। दार्शनिक विषयों का निरूपण वाद के साहित्य में विशेष रूप में हुआ है।

तत्त्वार्थ सूत्र आचार्य उमास्वाति की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मशास्त्र आदि अनेक विषयों पर उसमें सुन्दरतम निरूपण है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र पर एक भाष्य भी लिखा था। छठी शताब्दी में हुए दिगम्बर आचार्य पृज्यपाद ने तत्त्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि नामक सक्षिप्त टीका लिखी थी। अकलक व विद्यानन्द ने क्रमशः राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक की रचना की। ये दोनों भी दिगम्बर आचार्य थे। इनकी टीकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। दर्शन के प्रत्येक विषय को उन्होंने स्पर्श किया है। श्वेताम्बर परम्परा के मित्रमेन और हरिभद्र ने भी बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। उन टीकाओं का निर्माण आठवीं-नौवीं शताब्दी में हुआ। जैन दार्शनिक प्रणालि की जलक उन टीकाओं में स्पष्ट रूप में देखी जा

वाद एवं मायावाद के समक्ष जैन परम्परा का अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद ही खड़ा हो सकता है और उसी आधार में हम प्रतिवादियों का प्रतिवाद कर अपनी रक्षा कर सकते हैं। उसी आधार में उसको अनेकान्त स्थापनयुग या अनेकान्तवादी युग कहा है।

प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग

तर्क-शास्त्र के नियम के अनुसार प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के द्वारा ही हो सकती है। संस्कृत साहित्य में और विशेष रूप में इस प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग में "मानाधीना मेयसिद्धि" यह एक प्रसिद्ध नारा था, अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधार पर ही की जा सकती है। इस युग में जैन परम्परा के सभी आचार्यों का ध्यान अनेकान्त से हटकर प्रमाणशास्त्र पर चला गया।

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में दिङ्नाग के तार्किक विचारों ने एवं उसके दार्शनिक विवेचन ने प्रमाणशास्त्र और न्याय-शास्त्र को नूतन प्रेरणा प्रदान की। दिङ्नाग बौद्ध परम्परा में प्रमाणशास्त्र का पिता माना जाता है। वह प्रबल प्रतिभासम्पन्न, तार्किक एवं प्रमाणशास्त्र का प्रशस्त व्याख्याता था। दिङ्नाग ने जिस प्रमाण शास्त्र को जन्म दिया उसके पालन पोषण करने का दायित्व धर्मकीर्ति पर आ गया। दिङ्नाग की प्रतिभा उद्भूत होने ही दार्शनिक क्षेत्र में नयी हलचल मच गई, जिसके फलस्वरूप बौद्ध-परम्परा में भी इस युग के तार्किकों ने प्रमाणशास्त्र पर विशेष बल दिया। वैश्विक परम्परा में व्योमशिव, जयन्त, उद्योतकर, कुमारिल जैसे मेधावी तार्किक सामने आये। यह समय आठवीं-नौवीं शताब्दी का था। इस समय के परम्परा में अनेक आचार्य हुए। उनमें आचार्य हरिभद्र और अकलक के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र ने प्रमाणशास्त्र पर कीर्ति अर्जित की। उन्होंने निम्न पर स्वरचित 'अनेकान्तजयपताका' 'शास्त्रवार्ता' 'प्रमाणशास्त्र' 'प्रमाणशास्त्र' में प्रमाणशास्त्र पर एवं उसकी विकास-प्रक्रिया पर विशेष रूप से चिन्तन प्रस्तुत किया। अकलक ने 'प्रमाणशास्त्र' 'प्रमाणशास्त्र' एवं 'वर्गीयग्रन्थी' आदि ग्रन्थों में प्रमाणशास्त्र का परिमार्जन बहुत ही व्यवस्थित रूप में किया। 'प्रमाणशास्त्र' की 'प्राप्त-मीमांसा' पर अकलक कृत जो 'प्रमाणशास्त्र' विवरण जैन परम्परा के प्रमाणशास्त्र

सम्पन्न दार्शनिक भी उस प्रभाव से किस प्रकार बच सकते थे। उन पर भी इस नवीन-न्याय शैली का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त तक जैनदर्शन में प्राचीन परम्परा और प्राचीन शैली में ही न्याय ग्रन्थों की रचनाएँ होती रही। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उपाध्याय यशोविजय जी ने नवीन न्याय शैली में न्याय-ग्रन्थों का प्रणयन किया। अनेकान्त-व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्य न्याय शैली में लिखकर अनेकान्तवाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। प्रमाणशारत्र पर 'जैन तर्क भाषा' और 'ज्ञानविन्दु' लिखकर जैन परम्परा के गौरव में चार चौद लगाये। नयवाद पर, नय-प्रदीप, नय-रहरय, और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे। नयोपदेश पर 'नयामृत-तरंगिणी' नामक खोपज वृत्ति लिखी। अष्ट-सहस्री पर विवरण भी लिखा। आचार्य हरिभद्र रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय पर 'स्याद्वादकल्पलता' नामक टीका लिखी। भाषा-रहरय, प्रमाण-रहरय, वाद-रहरय, आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय खण्डखाद्य, और न्यायालोक लिखकर नूतन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का निरसन भी किया।

यशोविजयजी के अतिरिक्त यशस्वनसागर और विमलदास ने नव्य न्याय शैली में ग्रन्थों की रचना की।

आगमयुगीन जैनदर्शन

आगम साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण किस प्रकार हुआ है ? इस प्रश्न का सही समाधान तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारी दृष्टि विद्याल एव ऐतिहासिक होगी । जैसे वेदकालीन दर्शन की अपेक्षा उपनिषद्-कालीन दर्शन प्रौढतर है और गीताकालीन दर्शन प्रौढतम है, वैसे ही जैन-दर्शन के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है । आगमकालीन दर्शन की अपेक्षा आगम-व्याख्या साहित्य में जैनदर्शन प्रौढतर हो गया है और तत्त्वार्थगूत्र में पहुँच कर प्रौढतम । अब हमें देखना है कि आगम साहित्य में और उसके व्याख्या साहित्य में जैनदर्शन का प्रारम्भिक रूप क्या और किस रूप में था ?

आगमकालीन दर्शन को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रमेय और प्रमाण अथवा ज्ञेय और ज्ञान । जहाँ तक प्रमेय अथवा ज्ञेय का प्रश्न है, जैन आगम साहित्य में यत्र-तत्र अनेकान्त दृष्टि, सप्तभंगी, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, पदार्थ, क्षेत्र, काल एव भाव, निश्चय और व्यवहार, निमित्त और उपादान, नियति और पुरुषार्थ, कर्म और उसका फल, आचार और योग आदि विषयों पर विखरा हुआ वर्णन मिलता है । जहाँ तक प्रमाण और ज्ञान का विषय है, उसके सम्बन्ध में निक्षेप में उतना कह सकते हैं कि ज्ञान और उसके भेद-प्रभेदों का विस्तार में निरूपण आगम साहित्य में है । ज्ञान और उसके ऐसा कोई भी भेद नहीं है जिसका उल्लेख आगम और व्याख्या साहित्य में न आया हो । प्रमाण के सम्बन्ध में प्राचीन न्याय पद्धति पर प्रमाण तभी भेद और उपभेदों का वर्णन भी आगमों में उपलब्ध पाया । जैन-प्रमाण, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद । अनुमान और अनुमान की भंग, उपमान और ज्ञान प्रमाण के भेद भी मिलते हैं । नय के

उस स्वप्न के फल में बताया गया कि भगवान महावीर चित्र-विचित्र सिद्धान्त (स्व-पर सिद्धान्त) को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश करेंगे। उसके पश्चात् जैन दार्शनिकों ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और न्याय-वैशेषिक के सामने अनेकान्त को मिट्ट किया। स्वप्न में देखे हुए पुष्कोकिल की पाखो को चित्र-विचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का यही अभिप्राय ज्ञात होता है कि उनका उपदेश एकरूपी न होकर अनेकरूपी था—अनेकान्तवादी था। भगवान महावीर ने जब कोई प्रश्न करता तब वे उसका उत्तर अनेकान्त दृष्टि में देते थे। सूत्रकृताङ्ग में भगवान में प्रश्न किया गया—‘भगवान् ! भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ?’ उत्तर में भगवान ने कहा—‘विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए।’ विभज्यवाद का सही तात्पर्य क्या है, उसे समझने के लिए जैन व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी उपयोगी हैं।

मज्झिम निकाय में शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर में तथागत बुद्ध ने कहा—हे माणवक ! मैं विभज्यवादी हूँ, एकाग्रवादी नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन परम्परा के विभज्यवाद और अनेकान्तवाद को तथागत बुद्ध ने भी स्वीकार किया। वस्तुतः किसी भी प्रश्न के उत्तर देने की अनेकान्तात्मक पद्धति विभज्यवाद है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में उतना ज्ञानने के पश्चात् ग्याद्वाद के सम्बन्ध में समझना आवश्यक है। ग्याद्वाद का अर्थ है कथन करने की एक विशिष्ट पद्धति। जब अनेकान्तात्मक वस्तु के लिये एक धर्म का उद्देश्य अभीष्ट हो तब अन्य धर्मों के संरक्षण के लिए ‘ग्याद्वाद’ शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह कथन ग्याद्वाद कहलाता है। ग्याद्वाद अनेकान्तवाद भगवान महावीर की मौलिक नैतिक नैतन उद्भावना है।

हुआ है। प्रमाण और ज्ञान किमी भी वस्तु के जानने में साधन है। प्रमाण की अपेक्षा आगमो में ज्ञान का वर्णन विस्तार में आया है। पञ्चज्ञान की चर्चा भगवान महावीर में पूर्व भी थी, ऐसा राजप्रणतीय में ज्ञात होता है। आगम साहित्य में ज्ञान के भेदों और उपभेदों का वर्णन किया गया है। कर्म-शास्त्र में ज्ञानावरणीय कर्म के जो भेद और उपभेद निरूपित किये गये हैं जीव-मार्गणाओं में पाँच जानों का जो वर्णन है और पूर्व साहित्य में ज्ञान का स्वतन्त्र निरूपण करने वाला ज्ञान प्रवाद पूर्ण है, इन सभी में यही स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर में पूर्व भी पंच जानों का वर्णन था। आगम साहित्य के आधार में ज्ञान की तीन भूमिकाएँ बनती हैं—पहली भूमिका वह है जिसमें ज्ञान के पाँच भेद बताए गए हैं। द्वितीय भूमिका वह है जिसमें पाँच जानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागों में विभक्त कर मति और श्रुत को परोक्ष में और अवधि, मन पर्यव, और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष में माना है। तीसरी भूमिका वह है जिसमें इन्द्रिय जन्य जानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष, उभय रूप में स्थान दिया है।

ज्ञान चर्चा की इन तीनों आगमिक भूमिकाओं की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि उनमें ज्ञान-चर्चा के साथ अन्यान्य दर्शनों में प्रचलित प्रमाण-चर्चा का किमी भी प्रकार का सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया है। आगमतार ने उन जानों में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद कर यह स्पष्ट कर दिया है जो अन्य दर्शन वाले प्रमाण और अप्रमाण के विभाग द्वारा माना चाहते हैं। प्रमाण और अप्रमाण जैसे विशेषण न देकर प्रथम पाँच जानों में अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की संभावना मानी है और अन्तिम दो जानों को अज्ञानत सम्यक्त्वयुक्त बताया है। उस प्रकार पाँच जानों को प्रमाण और अप्रमाण न कहकर उन विशेषणों का प्रयोजन करने में विफल किया है।

कर्म-शास्त्र पर सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने 'गोम्मतगार का कर्म-काण्ड, देवेन्द्रमूरि ने कर्मग्रन्थ आदि लिगे। आचार शास्त्र में मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत, धर्म विन्दु-प्रकरण, योग शास्त्र, रत्न-करण्ड-श्रावकाचार, वसुनन्दी-श्रावकाचार, पण्डित आणाभर का सागार धर्मामृत आदि हैं। वाचक उमारवानि का तत्त्वार्थगूत्र, उमकी टीकाएँ-उपटीकाएँ, नेमिचन्द्र का द्रव्य सग्रह, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनगार, समयगार, नियमगार, पचारितकायगार आदि तत्त्व-विचार विषयक ग्रन्थ हैं। आचार्य हरिभद्र के 'योगविशिका, योग-जनक, योग-दृष्टि समुच्चय' योगविन्दु प्रकरण, ये उस युग की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। उस युग के आचार्यों ने तत्त्व पर मुख्य रूप में लिखा।

भगवान ने समाधान दिया—रोह । लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे । दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं । इनमें पीवपर्यं नहीं है ।^१

लोक क्या है ?

जहाँ हम रहते हैं वह लोक है, लोक अलोक के बिना नहीं हो सकता इसलिए अलोक भी है । अलोक केवल आकाश है । धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य का वहाँ पर अभाव है । लोक वह है, जहाँ पर इन छहो द्रव्यों की सहस्थिति होती है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पञ्चास्तिकायो का जो सहावस्थान है वह लोक है ।^२ उत्तराध्ययन में सक्षेप की दृष्टि से जीव और अजीव की सहस्थिति को लोक कहा है ।^३

लोक और अलोक का विभाग नया नहीं किन्तु शाश्वत है और उनके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत हैं । यह एक तथ्य है कि कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का कभी विभाजन नहीं हो सकता । छहो द्रव्य शाश्वतिक हैं । आकाश का विभाजन होता है अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता । काल परिणामन का हेतु है । हम लिख चुके हैं कि काल के दो विभाग हैं नैश्चयिक और व्यावहारिक । नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है । जो लोक और अलोक दोनों में है । व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र की गतिप्रिया में होने वाला समय का विभाग है जो मनुष्य लोक के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता । जीव और पुद्गल ये दोनों गतिशील हैं और मध्यम परिणाम माने हैं । लोक-अलोक की सीमा निर्धारण करने वाले स्थिर और अविनाशक तत्त्व हैं धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय । ये अखण्ड आकाश को दो भागों में विभाजित करने हैं । ये जहाँ तक है वहाँ तक लोक है, और जहाँ पर अभाव है वह अलोक है । धर्म और अधर्म के अभाव में गति और स्थिति का अभाव है । गति और स्थिति के अभाव में ही जीव और पुद्गल लोक में ही हैं, अन्यत्र नहीं ।

अधोलोक तीन विभाग किये उनकी भी विभिन्न आकृतियां बनती हैं।^१ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कहीं पर फैली हुई है और कहीं पर संकुचित है। ऊर्ध्वलोक में धर्म, अधर्म विस्तृत होते चले गये हैं। इसलिए उसका आकार ऊर्ध्वमुख मृदग के समान है। मध्यलोक में वे कृष्ण हैं इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान है। नीचे की ओर फिर वे विस्तृत रूप में व्याप्त हैं अतः अधोलोक का आकार ओधे किये हुये शगव के सदृश बनता है। अलोकाकाश में दूसरे द्रव्य का अभाव होने से उसमें कोई आकृति नहीं है। लोकाकाश की मोटाई मात रज्जू की है।

लोक की मोटाई को समझाने के लिए भगवान् महावीर ने स्वर्ग की भाषा में कहा—एक देव मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—जो एलाग्र योजन की ऊँचाई पर है। नीचे चारों दिशाओं में दिक्-कुमारिकाएँ हैं। वे वलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस वलिपिण्ड को एक साथ फेकती हैं। उस समय वह देवता दीडता है। चारों वलिपिण्डों को पृथ्वी पर गिरने में पूर्व वह हाथ में ले लेता है। उसे शीघ्रगति कहते हैं। उस शीघ्रगति से छह लोक का अन्त लेने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नीचे छह दिशाओं में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयुवाला पुत्र पैदा हुआ, उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके परन हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे पोते हुए। उस प्रकार मात पीढ़ि प्रयोग हो गई। उसके नाम-गोत्र भी मिट गये, तथापि देवता चलते किन्तु लोक का अन्न प्राप्ति न कर सके। यह ठीक है कि उन्होंने अधिक पार किया है, जो भाग शेष रहा वह असंख्यातवा भाग है। उससे यह सिद्ध होता है कि लोक किनारा बना है।

इसी प्रकार मध्यलोक इतना विशाल है तथापि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

अधोलोक

मध्यलोक के नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमें क्रमशः नीचे-नीचे सात पृथिवियाँ हैं जो सात नरकों के नाम से विश्रुत हैं। इनमें मुख्य रूप से नारक जीव रहते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-सी नहीं है। नीचे-नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर की भूमियों में अधिक लम्बी-चौड़ी हैं। ये भूमियाँ एक दूसरे से नीचे हैं। परन्तु एक दूसरे में सटी हुई नहीं हैं। बीच-बीच में बहुत अन्तर है, इस अन्तराल में घनोदधि, घनवात, और आकाश हैं। प्रत्येक पृथ्वी के नीचे क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। अधोलोक की सात भूमियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा। इनके नाम के साथ जो प्रभा शब्द जुड़ा हुआ है वह इनके रंग को व्यक्त करता है। रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड हैं। सब से ऊपर का प्रथम खरकाण्ड है जो रत्न बहुल है। उसकी ऊपर से नीचे तक की मोटाई १६००० योजन है। उसके नीचे दूसरा काण्ड पक बहुल है उसकी मोटाई ८८,००० योजन है। उसके नीचे का तृतीय काण्ड जल बहुल है उसकी मोटाई ८०,००० योजन है। उस प्रकार तीनों काण्डों की मोटाई यदि मिलाई जाय तो रत्नप्रभा की मोटाई—१,८००० योजन होती है। दूसरी पृथ्वी में लेकर मानवी पृथ्वी तक उस प्रकार के काण्ड नहीं हैं। उनमें भी पदार्थ हैं वे सभी समान हैं। दूसरी नरक की मोटाई १,३२००० योजन है। तीसरी नरक की मोटाई १,२८००० योजन है। चतुर्थ नरक की मोटाई १,२००,००० योजन है। पाँचवीं नरक की मोटाई १,१८००० योजन है। छठी नरक की मोटाई १,१६००० योजन है और सातवीं की १०८,००० योजन है। सातवीं नरक के नीचे का घनोदधि आती है उसकी मोटाई भी विभिन्न है।

लोक-स्थिति

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक सम्वाद है। गार्गी ने लोक-स्थिति के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के सामने जिज्ञासा प्रस्तुत की—यह विश्व जल में ओत-प्रोत है। परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—वायु में।

गार्गी—वायु किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक में, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्मलोक में ओत-प्रोत है।

गार्गी—ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—गार्गी ! यह अति प्रश्न है तू इस प्रकार के प्रश्न मत कर नहीं तो तेरा सिर कटकर गिर पड़ेगा।^१

जैन साहित्य में इस प्रकार की बात नहीं है। भगवान महावीर ने जो भी प्रश्न पूछा गया, उनका उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया है परन्तु कहीं पर भी उस प्रकार का भय नहीं बताया है।

भगवती सूत्र में लोक की स्थिति कितने प्रकार की है, उस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—गीतम । लोक-स्थिति आठ प्रकार की है।^२

१ वायु आकाश पर ठहरी हुई है।

२ समुद्र वायु पर ठहरा हुआ है।

३ पृथ्वी समुद्र पर ठहरी हुई है।

४ सम-स्थान जीव पृथ्वी पर ठहरे हुए हैं।

५ अजीव जीव के आश्रित हैं।

६ मरुभूमि-जीव कर्म के आश्रित हैं।

७ अजीव जीवों द्वारा मग्नहीन हैं।

८ जीव मरुभूमि मग्नहीन हैं।

इस प्रकार आकाश, वायु, जल और पृथ्वी में चार अंगों के द्वारा विश्व की यह सम्पूर्ण व्यवस्था निर्मित है।

इस प्रकार जैन साहित्य में

१. १

चैतन्य की उत्पत्ति मानी गई है, तो चैतन्याद्वैतवाद में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते अपितु अचेतन या चेतन में किसी एक के अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जड़ में चैतन्य और चैतन्य में जड़ की उत्पत्ति नहीं होती। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होता है। इस दृष्टि में जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन और मीमांसकदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है। उन संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए ये दर्शन आरम्भवादी कहलाते हैं।

सांख्यदर्शन और योगदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि का कारण त्रिगुणान्तिका प्रकृति है। जब प्रकृति धुंध होती है तब त्रिगुण का विकास होता है। उसमें सृष्टि का निर्माण होता है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणामवाद में दो रूप परिणामवाद के हैं। गुण-परिणामवाद सांख्यदर्शन और मध्वाचार्य मानते हैं और ब्रह्म-परिणामवाद रामानुजाचार्य मानते हैं। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर ये तीनों तत्त्व मानते हैं, तथापि सभी को ब्रह्म रूप मानते हैं। ब्रह्म ही अणु विशेष में प्रकृति रूप में परिणत होकर सृष्टि उत्पन्न है।

जैन और बौद्धदर्शन सृष्टिवाद को नहीं मानते हैं। वह तो परिवर्तन-

जैनदर्शन में परिणत की प्रयुक्त प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' कहलाती है। यह अद्वैतवाद है। उसमें कारण में कार्य पैदा होता है। अतः सृष्टिवाद में पदार्थ उत्पन्न होता है।

बौद्धदर्शन में सृष्टिवाद सिद्ध नहीं होता। बौद्ध भी परिवर्तन दिग्गर्ह्य है। बौद्ध दर्शन में सृष्टिवाद का अर्थ है कि सृष्टि उत्पन्न होता है। यह परि-

भेदवादी किसी भी पदार्थ में अन्वय नहीं मानता। वह प्रतिपल-प्रतिक्षण विविध तत्त्व और विविध ज्ञान की सत्ता में विश्वास करता है। उसका मन्तव्य है कि भेद के अतिरिक्त कोई भी तत्त्व निर्दोष नहीं है। जहाँ पर भेद है वही पर वास्तविकता है। भारतीय दर्शन में वैभाषिक और सौत्रान्तिक इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं। वे क्षण-भगवाद को अन्तिम सत्य स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। हर क्षण पदार्थ उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है, कोई भी चिरस्थायी नहीं है। जहाँ पर स्थायित्व नहीं वहाँ पर अभेद किस प्रकार हो सकता है? ज्ञान भी क्षणिक है और पदार्थ भी क्षणिक है। जिसे हम आत्मा कहते हैं वह विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप इन पाँच स्कन्धों का समुदाय है^१ जो वाह्य पदार्थ है वह क्षणिक परमाणु-पुञ्ज है। प्रस्तुत समुदायवाद को बौद्धदर्शन में सघातवाद भी कहा है। विभिन्न निरश तत्त्वों का समुदाय सघात है। आत्मा नाम का कोई भी अखण्ड और स्थायी द्रव्य नहीं है। इसे अनात्मवाद या पुद्गलनैरात्म्य भी कहा है। वाह्य पदार्थ क्षणिक और निरश परमाणुओं का एक समुदाय है इसे धर्मनैरात्म्य के नाम से भी अभिहित किया गया है। यह कथन देश की अपेक्षा से है। इसी प्रकार काल की दृष्टि से 'सन्तानवाद' का समर्थन करते हैं। चित्त और परमाणु की सन्तति को निहार कर हम 'यह वही है' उस प्रकार कहते हैं, वस्तुतः यह अलग और वह अलग है। यह गरी है और वह वही है। जब सभी क्षणिक हैं तो यह वह नहीं हो सकता। समागम जिनना भी व्यवहार है वह सभी सघातवाद और सन्तानवाद पर आधारित है। देशीय एकता का बोध सघातवाद से होता है और सार्वभौमिक एकता का परिज्ञान सन्तानवाद से होता है। अभेद या अन्वय सन्तानवाद से है। प्रत्येक ज्ञान और पदार्थ निरश और भिन्न है। अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सन्तान-परम्परा से कुछ सन्तति के अन्तर्गत उनमें एकता का आरोप करते हैं परन्तु वे सभी अलग-अलग और अलग-अलग से विभक्त भिन्न हैं। परिवर्तन उतना शीघ्र होता है कि सन्तति के अन्तर्गत एकता की धारणा स्वाभाविक हो जाती है। अन्तर्गत एकता के अन्तर्गत एकता है और वह एक चिन्तु पर ही रहता

प्रधानता रहती है। भेद स्वतन्त्र न होकर अभेद पर अवलम्बित होता है। भेद, अभेद के आश्रित होकर जीता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला मत दोनों को स्वतन्त्र रूप से सत् मानता है। उसकी दृष्टि में अभेद की प्रधानता है।

जैनदर्शन की दृष्टि बड़ी विलक्षण है। वह भेद और अभेद दोनों को समान रूप से सत् मानता है। जैसे भेद वास्तविक है वैसे अभेद भी वास्तविक है। तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। भेद और अभेद ये दोनों इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हैं कि एक के अभाव में दूसरे की उपलब्धि नहीं हो सकती। जहाँ पर भेद है वहाँ पर अभेद है और जहाँ पर अभेद है वहाँ पर भेद है। भेद और अभेद किसी सम्बन्ध विशेष से सम्मिलित हो ऐसी बात नहीं है। वे तो स्वभाव से ही एक-दूसरे से मिले हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वभावतः सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को भेदात्मक कहना उचित नहीं है, चूँकि कोई भी भेद अभेद के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। अभेद को मिथ्या और कल्पना कहना पर्याप्त नहीं है। वह किसी प्रमाण से जब तक मिथ्या मित्र न हो जाय। प्रमाण बिना अनुभव के नहीं होता और अनुभव अभेद का मिथ्या मित्र नहीं करता। एकान्त अभेद को मानना भी इसी प्रकार उचित नहीं है चूँकि जो दोष एकान्त भेद में है वही दोष एकान्त अभेद में भी है भेद और अभेद ये दो स्वतन्त्र पदार्थ मानना उचित नहीं है, चूँकि भेद और अभेद स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध नहीं होते, उन्हें जोड़ने वाला अन्तर्भाव भी नहीं है। ऐसी स्थिति में वस्तु स्वयं भेदाभेदात्मक है, ऐसा मानना उचित है। तत्त्वान्वय मटण है, कथंचित् विमटण है, कथंचित् वाच्यं । तत्त्वान्वय मटण है, कथंचित् मत्तु है, कथंचित् असत्तु है। ये सभी धर्म तत्त्वों में हैं। उनका सम्बन्ध कहीं बाहर में नहीं है। वस्तु आत्मिक और अविशेष, भिन्न और अभिन्न, एक और अनेक, निरालम्ब और अलम्बित, अविमटित की भी यही मान्यता थी। वह वस्तु को भेदाभेदात्मक मानना था। उसका मन्तव्य था कि कोई

के भी असत्यात प्रदेश है। धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव इन चारों के असत्यात प्रदेश समान है। काल के न प्रदेश है और न परमाणु ही है। प्रदेशों का अभाव होने से काल को अस्तिकाय में नहीं गिना है। उसे द्रव्य की कोटि में इसलिए रखा गया है कि वह द्रव्य के समान उपयोगी है, व्यवहार का प्रवर्तन करता है। आचार्यों ने काल के नैश्चयिक और व्यावहारिक ये दो भेद किये हैं। पंचारितकाय में जो वर्तमान रूप परिणमन है वह नैश्चयिक दृष्टि से है। ज्योतिष की गति के आधार से जो परिवर्तन होता है वह व्यावहारिक दृष्टि से है। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि वर्तमान का एक समय नैश्चयिक है, भूत और भविष्य का जो कथन है वह व्यावहारिक है। जो समय चला गया है वह आने वाला नहीं है और भविष्य में आने वाला समय अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, इसलिए भूतकाल और भविष्यकाल ये दोनों ही अविद्यमान हैं। इसलिए वे व्यावहारिक और औपचारिक हैं। समय, मुहूर्त, दिन-रात आदि सभी भेद व्यावहारिक काल की दृष्टि से हैं। आकाश का कात्पनिक खण्ड दिग् कहलाता है, दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

वर्तमान, भूत और भविष्य इन दोनों का सकलन करता है। भूत और भविष्य का महत्त्व वर्तमान में है। किसी भी वस्तु का जब हम अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह वस्तु पूर्व में भी थी और पश्चात् भी रहेगी। वह वस्तु हमेशा एक ही अवस्था में रहेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने पर भी उसके मौलिक रूप और शक्ति में कभी भी किञ्चित् भी विनाश नहीं आता। इसका परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है “जो वस्तु सदा प्राप्ता हो प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है।” इसका अर्थ है कि जो वस्तु उत्पन्न और विनाश होने पर भी जो सदा ध्रुव रहती है, वह द्रव्य है। अभाव में पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का अभाव नहीं होता, जो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों में समान रहती है, वह द्रव्य है। जो द्रव्य सदा रहता है।

उक्त अर्थों को ध्यान में रखा जाय तो कहा जाय—सत् उत्पाद द्रव्य और नष्टा द्रव्य का परिभाषा मिलने हुए, निम्न—

अनित्य है किन्तु परिणामी-नित्य है। मत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन में भी उमका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार का अभाव हो तो 'यह वही है' का अनुभव कैसे हो सकता है। यदि द्रव्य निर्विकारी है तो विश्व की विविधता किस प्रकार सगत हो सकेगी। एतदर्थ जैनदर्शन ने परिणामीनित्यत्व का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से प्रस्तुत सिद्धान्त की तुलना की जा सकती है।

सन् १७८६ में द्रव्याक्षरत्ववाद की स्थापना लेवोसियर (Lawosier) नामक मुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने की थी। इस सिद्धान्त का मक्षेप में माराश यह है कि इस विराट् विश्व में द्रव्य का परिणाम मदा सर्वदा समान रहता है उसमें न्यूनता व अधिकता नहीं होती। न वर्तमान द्रव्य का पूर्ण रूप में नान होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण रूप में जिसे द्रव्य का नष्ट होना माना जाता है, वह नष्ट नहीं होता किन्तु रूपान्तर होता है। जैसे कोयला जलने पर राख हो जाता है, वह कोयला रूप में नष्ट हो गया, किन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल में ऑक्सीजन अणु के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो जाती है। जलर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते अपितु जो ठोस व द्रव रूप में परिणत हो जाते हैं। नवीन वस्तु कोई भी उत्पन्न नहीं होती किन्तु पूर्व वस्तु का रूपान्तर हो जाता है। आपके घर में लोहे का कोई गान पड़ा हुआ है। दीर्घकाल तक उसका उपयोग नहीं करने के कारण उसमें जग लग गया है। जग कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु लोहे की उपर का हिस्सा जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग में लोहे का ऑक्साइड के रूप में बदल गया। पदार्थों के गुणात्मक अन्तर के कारण ही परिमाण-मत् अन्तर में परिवर्तित कर देता है। शक्ति का अन्तर ही दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु गुण की दृष्टि में परिवर्तन होता है। द्रव्य, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण में न्यूनता नहीं आती किन्तु द्रव्य में परिवर्तित होने दे। जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय और नाश के सिद्धांतों से यह स्पष्ट होता है। निग द्रव्य का नाश समझा जाता है पर वह नाश केवल रूपान्तर ही होता है। वस्तुतः अर्थात् में जितने द्रव्य उत्पन्न होता है उतने ही नाश होता है और जितने वर्तमान में है उतने ही भविष्य में

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खड़े हुए हैं। आस्तिक-दर्शनो में से प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार तत्त्व-मीमांसा और तत्त्व-विचार स्थिर किया है। भौतिकवादी चार्वाकदर्शन ने भी तत्त्व स्वीकार किये हैं। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व मानता है^१, आकाश को नहीं। चूँकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है। वैशेषिकदर्शन में मूल छह तत्त्व माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, कालान्तर में उनके साथ 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड़ दिया गया है। इस तरह सात पदार्थ हैं। न्यायदर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं, वे ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, मणय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। सांख्यदर्शन ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं। वे ये हैं—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पञ्च महा-भूत और पुरुष। योगदर्शन साम्यसम्मत तत्त्वों को ही स्वीकार करता है। मीमांसा-दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्त्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को सत् मानता है और शेष सभी को अमत् मानता है। बौद्धदर्शन ने चार आर्य सत्य स्वीकार किये हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय (३) दुःख-निरोध, (४) दुःख-निरोध-मार्ग। जैनदर्शन में तत्त्व की संख्या दो प्रकार में की गई है—पदद्रव्य रूप में तथा सप्त-तत्त्व या नव पदार्थों के रूप में। (द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ उन तीनों का एक ही अर्थ है।)

तत्त्व की परिभाषा

जैनदर्शन में विभिन्न शब्दों पर और विभिन्न प्रसंगों पर सत्, मत्त्व, पदार्थ, प्रमाण, प्रमेय, मणय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—उन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। इससे शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रहे हैं। आचार्य जैन ने तत्त्व शब्दों-मत्त्व में तत्त्वार्थ, सत् और द्रव्य शब्द का प्रयोग किया है। जैनदर्शन में जो तत्त्व हैं वह सत् हैं और जो मत्त्व हैं वे अमत् हैं। अन्तर है, भावों में कोई अन्तर नहीं है। तत्त्व दो भेद हैं—द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। इन दोनों का ही प्रपञ्च है, विस्तार है।

सख्या नौ बताई गई है किन्तु स्थानाङ्ग^१ आदि में दो राशि का भी उल्लेख है—जीव-राशि, और अजीव-राशि। आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में इसी आधार पर तत्त्व के दो भेद किये हैं—जीव और अजीव। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में पुण्य और पाप तत्त्व को आस्रव या बन्ध तत्त्व में समावेश कर तत्त्वों की सख्या सात मानी है।^२ आचार्य मलय-गिरि ने भी प्रज्ञापना सूत्र की टीका में उन्हीं का अनुसरण किया है।^३

तत्त्वों का क्रम

प्रश्न उद्भूत होता है कि नव तत्त्वों में सर्व प्रथम जीव को ही क्या स्थान दिया गया है? उत्तर है कि उक्त तत्त्वों में ज्ञाता, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ और अशुभ कर्म का कर्ता तथा ससार और मोक्ष के लिए योग्य प्रवृत्ति का विधाता जीव ही है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग क्या रहेगा? एतदर्थ ही नव तत्त्वों में जीव तत्त्व की प्रमुखता होने से उसे प्रथम स्थान दिया गया है। जीव की गति में, अवस्थिति में, अवगाहना में और उपभोग आदि में उपकारक अजीव तत्त्व है, अतः जीव के पश्चात् अजीव का उल्लेख है। जीव और पुद्गल का मयोग ही ससार है। उस ससार के आस्रव और बन्ध में दो कारण हैं अतः अजीव के पश्चात् आस्रव और बन्ध को स्थान दिया है। ससारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दुःख का वेदन होता है, उस दृष्टि से पुण्य और पाप का स्थान कितने ही ग्रन्थों में आस्रव और बन्ध के पूर्व रखा गया है और कितने ही ग्रन्थों में उसके बाद रखा गया है। जीव और पुद्गल का वियोग मोक्ष है। सार और निर्जरा उस मोक्ष का कारण है। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता है अतः सार, निर्जरा और मोक्ष गत क्रम रखा गया है। कितने ही ग्रन्थों में सार, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष गत क्रम है।

मशेष और विस्तार

मशेषों की यादगार को देखकर ही आचार्य किसी तत्त्व का मशेष विस्तार करने लगे हैं। यदि त्रिणामु कुणाप्रवृद्धि है तो तत्त्व का प्रतिपादन

अध्यात्म दृष्टि से वर्गीकरण

अध्यात्म दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय जो जानने योग्य है वह ज्ञेय है, जो छोड़ने योग्य है वह हेय है, जो ग्रहण करने योग्य है वह उपादेय है। जीव और अजीव ये दोनों ज्ञेय हैं। जो साधक अध्यात्म भाव की साधना करता है उस साधक के लिए जीव और अजीव इन दोनों का ज्ञान आवश्यक है। यदि वह जीव और अजीव को नहीं समझता तो सयम को कैसे समझेगा ? साधक के लिए बन्ध रूप ससार हेय है और मोक्ष उपादेय है। इसलिए मोक्ष के कारण सवर और निर्जरा भी उपादेय है और ससार के कारण आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध हेय हैं। यहाँ पर पुण्य के सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियमत ससार का कारण नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था में रत्नत्रय धर्म के साथ पुण्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। नीचे की भूमिका में प्रगस्त राग अर्थात् अपने से विशिष्ट गुण प्रधान निर्ग्रन्थ मुनियों, अरिहत देव और उनकी वाणी का अवलम्बन रहता है अतः धर्मानुराग होता है।

प्राकृत भाषा में—

नवतत्त्व बालावबोध—हर्षवर्धन गणि

नवतत्त्व बालावबोध—श्री पार्श्वचन्द्र

नवतत्त्व बालावबोध—(कुलक)

गुजराती भाषा में—

नवतत्त्व राग—श्री ऋषभदास

" " श्री भवमागर

" " श्री सोमाग्य मुन्दर

नवतत्त्व राग—श्री विजयदान गुरि

नवतत्त्व राग—श्री भाग्यविजय जी

" " श्री विजय जी

नवतत्त्व राग—श्री कमल शंकर

" " श्री सोमाग्य मुन्दर

" " श्री भवमान मुनि

" " श्री तुषार मुनि

नवतत्त्व राग—श्री विष्णु राग से उन सभी के नाम

द्रव्य और भाव

किसी भी वस्तु के स्वरूप को समझने की दृष्टि से उमे द्रव्य और भाव रूप दो भागो मे विभक्त किया जाता है । द्रव्य का अर्थ वस्तु का मूल स्वरूप है और भाव का अर्थ है उसकी पर्याय विशेष । द्रव्य और भाव का एक अन्य दृष्टि से भी अर्थ करते हैं, वह इस प्रकार है—द्रव्य का अर्थ पौद्गलिक वस्तु और भाव का अर्थ है आत्मिक परिणाम । द्रव्य और भाव की दृष्टि से नव तत्वो को इस प्रकार घटाते है—

द्रव्य जीव क्या है ? अनादिकालीन जीवरूप अखण्ड तत्त्व । भाव जीव क्या है ? जीव के प्रतिफल-प्रतिक्षण होने वाले विविध परिणमन अर्थात् पर्याय । इसी तरह अनादिकालीन धर्म, अधर्म, आकाश, आदि द्रव्य अजीव हैं और उसकी पर्याय भाव-अजीव हैं । द्रव्य पुण्य है शुभ कर्म के पुद्गल और भाव पुण्य है—पुण्य बन्ध के कारणभूत आत्मा के दान रूप आदि शुभ परिणाम । द्रव्य पाप है अशुभ कर्म के पुद्गल, भाव पाप है पाप बन्ध के कारणभूत आत्मा के परपीडन रूप अशुभ परिणाम । द्रव्य आश्रव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और योग के निमित्त से कर्म पुद्गलो का आश्रवण । भाव आश्रव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और योग रूप आत्मा का परिणाम । द्रव्य सवर है—आश्रव का निरोध करने के लिए किं जाने वाले व्रत, समिति, गुप्ति के आचरण से पुद्गल रूप द्रव्य कर्मों का निरोध । भाव सवर है—आश्रव का निरोध करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम । द्रव्य निर्जरा है—विपाक, तप के द्वारा बद्ध कर्मों का आगिर क्षय होना । भाव निर्जरा है, निर्जरा करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम । द्रव्य बन्ध है—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध, भाव बन्ध है नाना भाग-द्रव्य रूप परिणाम । द्रव्य मोक्ष है—बद्ध कर्म का सर्वथा क्षय होना । भाव मोक्ष है—आत्मा का अपने शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और निर्विकार स्वरूप में रहना ।



- औपनिषद् विचारधारा
 - प्रतिविम्बवाद
 - अप्रच्छेदवाद
 - ब्रह्मजीववाद
- आत्मा का परिमाण
- जीव का लक्षण
- जीव के दो प्रकार
- शरीर और आत्मा
- विचारों का शरीर पर प्रभाव
- आत्मा और शरीर का सम्बन्ध
 - 1. प्राकृतिक विज्ञान और आत्मा
 - 2. भेदना का पूर्वरूप क्या है ?
 - 3. क्या इन्द्रियाँ और मस्तिष्क आत्मा है ?
 - 4. आत्मा के अवलम्बित प्रदेश
 - 5. आत्मा पर वैज्ञानिकों के विचार
 - 6. आत्मा को मर्मिदि
 - 7. आत्मा विनाश
 - 8. आत्मा और मृत्यु

घन चैतन्य का भूतो मे से उत्थित होकर उममे विनीन होने का निर्देश है और साथ ही 'न प्रेत्यसजाऽरित' भी कहा है।^१ भूतचैतन्यवाद परक प्रमुत् उल्लेख केवल जैन-साहित्य^२ मे ही नहीं है अपितु जयन्त जैसे समर्थ नैयायिको ने भी इसका चार्वाक के रूप मे निर्देश किया है।^३ सूत्रकृताङ्ग मे ऐसे मत का उल्लेख किया गया है जिसका यह मन्तव्य था कि पाँच भूतो मे म जीव पैदा होता है।^४ दीवनिकाय मे अजितकेशकम्बली के मत का वर्णन जो यह मानता था कि चार भूतो मे से पुरुष उत्पन्न होता है।^५ इससे स्पष्ट है कि उम समय एक ऐसा मत भी था जो चैतन्य या जीव को म भूतो का परिणाम या कार्य मानता था। अतः इस मत को लोकाय कह कर उसके प्रति गहरा व्यक्त की गई।

जैसे चार या पाँच भूतो के सघात से चैतन्य की उत्पत्ति मानने वा भूत 'चैतन्यवादी' मत का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है वैसे ही उ मत मे मिलता-जुलता 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का भी उल्लेख मिलता है उपनिषद् साहित्य मे 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का उल्लेख शब्द रूप मे न हुआ है पर सूत्रकृताङ्ग^६ विशेषावश्यक भाष्य^७ एव मज्झिमनिकाय^८ आदि मे हुआ है।

पण्डित सुखलाल जी आदि विद्वानो का अभिमत है "भूतचैतन्यवाद और तज्जीव तच्छरीरवाद ये दोनो मत पृथक्-पृथक् होने चाहिए। चूँकि यदि वं किमी भी अर्थ मे भिन्न नहीं होने तो इतने प्राचीनकाल मे इन दोनो

१ सूत्रारम्भोपनिषद् २।४।१२

२ विजयनगर भाष्य गा० १७५३

३ शारमजरी—विजयनगरम् मिरीज पृ० ४७२

४ सूत्रकृताङ्ग २।२।१७—८

५ दीवनिकाय—गामज्जापत्रमुत्त

६ (१) इति पदमे पुरिमजाप तज्जीवतच्छरीरवा त्ति आदिपि।

७ (२) इति पदमे पुरिमजाप तज्जीवतच्छरीरवा त्ति आदिपि।

—सूत्रकृताङ्ग गा०

—वही :

८ सूत्रकृताङ्ग निरुक्ति गा० ३०

९ सूत्रकृताङ्ग भाष्य—पारुमि की शरा

१० सूत्रकृताङ्ग भाष्य—पारुमि की शरा

किये। उसने मरने वालो से भी कहा कि तुम यहाँ से मरकर जहाँ पर जाओ वहाँ से आकर पुनः हमें समाचार देना। जब कोई भी उन्हें समाचार देने नहीं आए तो उसे यह निष्ठा हो गई कि शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। उसने प्रयोग करके भी देखा कि शरीर से पृथक् आत्मा है या नहीं? किसी को पेट में बन्द करके देखा कि जीव किस प्रकार बाहर निकलता है, पर पेट में किसी भी प्रकार का छेद नहीं हुआ, मुर्दे का वजन कम नहीं हुआ। प्रत्येक शरीर के अङ्गोपाङ्ग का छेदन करके भी देखा पर आत्मा के दर्शन उसे नहीं हुए। एक युवक अनेक बाण एक साथ चला सकता है पर बालक नहीं चला सकता, अतः शक्ति आत्मा की नहीं, अपितु शरीर की है, अतः शरीर के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।”

राजा प्रदेष्ठी के इन परीक्षणों में व युक्तियों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतो का विषय मानकर उसकी अन्वेष्टना कर रहा था। उसके दादा भी इसी विचारधारा के थे। इस बात का समर्थन उपनिषदों में भी होता है, वहाँ पर आत्मा को अन्नमय कहा है।^१

छान्दोग्योपनिषद् में एक कथा है कि अमुरो में वैरोचन के अन्तर्मनस में और देवो में इन्द्र के अन्तर्मनस में आत्म-विज्ञान की जिज्ञासा जाग्रत हुई। वे दोनों प्रजापति के पास पहुँचे और अपने हृदय की बात उनसे सामने प्रस्तुत की। प्रजापति ने पानी के एक पात्र में मुँह दिखाते हुए पूछा—तुम्हें उसमें क्या दिखाई देता है? दोनों ने एक स्वर से कहा—हमारा सम्पूर्ण शरीर उसमें दिखाई दे रहा है।

प्रजापति ने कहा—वही आत्मा है। वैरोचन को वह बात ज्ञान में आने लगी और उन्होंने उस बात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है।^२

प्राणमय-आत्मा

इन्द्र को उगले समाधान नहीं हुआ, वे आत्मा के सम्बन्ध में गहराई से विचार करने लगे। इन्द्र ही नहीं अन्य चिन्तकों के मन में भी यह विचार उत्पन्न होता होगा उसमें सम्भव है उस समय उनका ध्यान प्राणशक्ति पर था और उन्हें यह अनुभव हुआ होगा कि नोद

पडा हुआ हो तो भी मन डधर मे उधर घूमता रहता है अत इन्द्रियो ^१ आगे मन को आत्मा माना गया। पण्डित दलमुख मालवणिया ^१ का अभिमत है कि पहले प्राणमय आत्मा की कल्पना की गई, उसके पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई। इन्द्रियो और प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन भौतिक है या अभीतिक, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतव्यय नहीं है। कितने ही दार्शनिको ने मन को अभीतिक माना है। न्याय^२-वैशेषिक^३ मन को अणु रूप मानते हैं, और पृथ्वी आदि भूतो मे उसको विलक्षण मानते हैं। साध्यदर्शन मानता है कि भूतों की उत्पत्ति होने से पहले ही प्राकृतिक अकार मे मन उत्पन्न होता है। एतदर्थ वह भूतो की अपेक्षा सूक्ष्म है। वैशेषिक बौद्धो ने पुन मन को विज्ञान का समानान्तर कारण माना है इसलिए मन विज्ञान रूप है।^४

न्यायदर्शनकार^५ ने मन को आत्मा माना है। उसका तर्क है कि जिन कारणो से आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है उनसे वह मनोमय ही सिद्ध होती है। मन सर्वग्राही है। सभी इन्द्रियाँ जिन विषयो को ग्रहण करती हैं उन सभी विषयो को मन ग्रहण करता है। इसलिए मन को आत्मा मानना चाहिए। मन से पृथक् आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे 'अन्योन्तरात्मा मनोमय'^६ कहा है अर्थात् मन ही आत्मा है।

बृहदारण्यक मे 'मन क्या है?' इस प्रश्न पर विविध दृष्टियो ने चिन्तन किया है।^७ वहाँ पर मन को परम ब्रह्म सम्राट् भी कहा है।^८ मन को तान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्म कहा है।^९ तेजोविन्दु उपनिषद् में तो यहाँ तक

तान्दोग्योपनिषद् पृ. १७

संस्कृत १०२१७

तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१।२३

१. तान्दोग्योपनिषद् १।१।११ विज्ञानं यद्वि तन्मनः ।

२. तान्दोग्योपनिषद् १।१।११

३. तान्दोग्योपनिषद् पृ. ३३६

४. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

५. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

६. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

७. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

८. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

९. तान्दोग्योपनिषद् ३।१।२३

—अभिज्ञानकोप १।११

यह स्मरण रखना चाहिए कि कीपीतकी उपनिषद् में समस्त इन्द्रियाँ और मन को प्रज्ञा में प्रतिष्ठित किया गया। जैसे मानव सुप्त या मृतावस्था में होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राणरूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं अतः उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। जब मानव नींद में जागता है या फिर से जन्म लेता है तब जैसे चिनगारी में अग्नि प्रकट होती है वैसे ही प्रज्ञा से इन्द्रियाँ बाहर आती हैं^१ और मानव को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अण के सदृश हैं,^२ अतः प्रज्ञा के अभाव में वह कार्य नहीं कर सकती।^३ अतः इन्द्रियाँ और मन में भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

कठोपनिषद्^४ में एक के पश्चात् द्वितीय श्रेष्ठतर तत्त्वों की परिगणन की गई है। वहाँ पर मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त-प्रकृति और प्रकृति में पुरुष को उत्तरोत्तर उच्च माना गया। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं है अपितु अचेतन प्रकृति का भी धर्म है। इस मत को देखते हुए विज्ञानात्मा की शोध पूर्ण होने पर आत्म पूर्णतः चेतन स्वरूप है यह सिद्ध हो गया। उसके पश्चात् आनन्द की पराकाष्ठा आत्मा में है इसलिए आनन्दात्मा की भी कल्पना की गई।

चिदात्मा

चिन्तको ने आत्मा के सम्बन्ध में अन्नमय आत्मा से लेकर आनन्द आत्मा तक जो चिन्तन प्रस्तुत किया उसमें आत्मा के विविध आवरणों का आभास मिला गया किन्तु आत्मा के मूलस्वरूप की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। निम्नाने चरण आगे बढ़े, शोध हुई, तब चिन्तको ने कहा—अन्नमय आत्मा के अन्तर्गत भी कहा जाता है, स्थ के समान है। उसे चिन्ताने वाले को ही सामान्य आत्मा है।^५ आत्मा के अभाव में शरीर कुछ भी नहीं कर सकता। शरीर का गन्तव्य आत्मा है। शरीर और आत्मा ये दो

ज्ञान का जानने वाला है।^१ वही द्रष्टा है, श्रोता है, मनन करने वाला है, वही विज्ञाता है।^२ वह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्वप्रकाशरूप है, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है।^३

पहले चिन्तको ने भौतिक-तत्त्व को आत्मा माना और उसके पश्चात् उन्होंने अभीतिक आत्मतत्त्व को रवीकार किया। यह अभीतिक आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था, उसके सम्बन्ध में अब गहराई से चिन्तन होना आवश्यक था। हम देखते हैं कि नचिकेता आत्मतत्त्व को जानने के लिये अत्यधिक उत्सुक है। उसे जानने के लिए स्वर्ग के रतीन मनमोहक सुखों को भी तिलाञ्जलि दे देता है।^४ मैत्रेयी आत्म-विद्या को जानने के लिए पति की विराट् सम्पत्ति को भी ठुकरा देती है।^५ याज्ञवल्क्य कहता है कि पति-पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सभी वस्तुएँ आत्मा के निमित्त से हैं अतः आत्मा को देखना चाहिए, उसी का चिन्तन-मनन करना चाहिए।^६

उम प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जिन विविध विचारों का विकास हुआ उसका सकलन उपनिषद् साहित्य में हुआ है। उपनिषदों की रचना के पूर्व अवैदिक परम्परा भारत में विद्यमान थी और वह बहुत ही विकसित अवस्था में थी। इतिहासवेत्ताओं का अभिमत है कि वैदिक परम्परा ने अवैदिक जो श्रमण परम्परा भारत में थी, उससे आध्यात्मिक-मार्ग के ग्रहण किया। पर उस समय का श्रमण परम्परा का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। अतः उम पर समीक्षात्मक-दृष्टि से चिन्तन नहीं किया जा सकता है।

(४) जिस प्रकार आकाश अमूर्त है तथापि वह अवगाहन गुण जाना जाता है, उसी प्रकार जीव अमूर्त है तथापि वह विज्ञान गुण से जाना जाता है।

(५) जैसे काल अनादि है, अविनाशी है। वैसे जीव भी अनादि अविनाशी है।

(६) जैसे पृथ्वी सभी वस्तुओं का आधार है, वैसे जीव ज्ञान, दर्शन आदि का आधार है।

(७) जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है वैसे ही जीव तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है।

(८) जैसे सुवर्ण के हार, मुकुट, कुण्डल, अंगूठी प्रभृति अनेक रूप धारण करते हैं तथापि वह सुवर्ण ही रहता है केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। वैसे ही चारों गतियों व चौरासी लक्ष जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव की पर्याये परिवर्तित होती है, रूप और नाम बदलते हैं किन्तु जीव द्रव्य हमेशा वना रहता है।

(९) जैसे दिन में सहस्ररश्मि सूर्य यहाँ पर प्रकाश करता है तब तब दिग्विस्तार देता है। रात्रि में वह अन्य क्षेत्र में चला जाता है, तब उमका प्रकाश दिग्विस्तार नहीं देता है। वैसे ही वर्तमान शरीर में रहा हुआ जीव दिग्विस्तार देता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है तब वह दिग्विस्तार नहीं देता है।

(१०) तेज, कम्तूरी, कमल, केतकी आदि की सुगन्ध का रूप नैनो न नैनो दिग्विस्तार देता पर घ्राण के द्वारा उसका ग्रहण होता है वैसे ही जीव के दिग्विस्तार नैनो देते पर भी उमका ग्रहण ज्ञान गुण के द्वारा होता है।

(११) गन्ध यत्रो ते शब्द मने जाते हैं किन्तु गन्ध रूप दिग्विस्तार

न मानकर साख्य-योगदर्शन के सदृश सर्वव्यापी मानता है।^१ मध्यमपरिमाण या संकोच-विस्तारशीलता न मानने से साख्य-योगदर्शन के समान द्रव्यदृष्टि से जीव को कूटस्थनित्य^२ मानता है। तथापि न्याय-वैशेषिक-दर्शन गुण-गुणि या धर्म-धर्मिभाव के सम्बन्ध में साख्य-योगदर्शन से पृथक् होकर कुछ अंशों में जैनदर्शन के साथ साम्य रखता है। साख्य-योगदर्शन चेतना को निरश और किसी भी प्रकार के गुण या धर्म के सम्बन्ध से रहित मानते हैं तो न्याय-वैशेषिकदर्शन जीवतत्त्व को जैनदर्शन के समान अनेक गुणों या धर्मों का आश्रय मानता है।^३ ऐसा होने के बावजूद भी वह जैनदर्शन के चिन्तन से भी भिन्न तो पड़ता ही है। जैनदर्शन ने जीव को अनेक शक्तियों का पुञ्ज माना है, किन्तु न्याय-वैशेषिक-दर्शन जीवतत्त्व में ऐसी कोई चेतना शक्ति स्वीकार नहीं करता तथापि उसमें ज्ञान, मुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण मानता है। इन गुणों का सम्बन्ध शरीर के अस्तित्व तक रहता है। ये पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। न्याय-वैशेषिकदर्शन ने जिन गुणों की परिकल्पना की है वे गुण जैनदर्शन के आत्म-गुणों के साथ मिलते-जुलते हैं। तथापि दोनों ही दर्शनों में मौलिक अन्तर यह है कि जैनदर्शन मुक्त अवस्था में भी जीव में महज चेतना, आनन्द, वीर्य, ज्ञान आदि गुण मानता है, जबकि न्याय-वैशेषिकदर्शन के अभिमतानुसार जीवतत्त्व में विदेहमुक्ति के समय वैसे किमी शृद्ध या अशुद्ध, क्षणिक या स्थायी ज्ञान आदि गुण का सद्भाव ही नहीं है।^४ नानि नह मूल में ही जीवद्रव्य में साहजिक चेतना आदि शक्तियाँ नहीं मानता।

वाधारहित या अपरिवर्तिष्ण रहना । दूसरे मत के अनुसार अस्तित्व का तात्पर्य है सत् तत्त्व में परिवर्तन होता है तथापि उसका व्यवित्तत्व एक और अखण्ड रहता है । ये दोनों विचारधाराएँ अपनी-अपनी दृष्टि से चेतन तत्त्व को शाश्वत मानती थी । आत्मतत्त्व को एक और अखण्ड द्रव्य मानती थी । इन शाश्वतवादी विचारधाराओं के विरोध में बुद्ध ने कहा—ऐसा कोई भी तत्त्व या सत्त्व नहीं है जो काल के प्रवाह में अखण्ड या अबाधित रह सके । हर एक तत्त्व या अस्तित्व अपने स्वभाव के कारण ही काल के आन्तर्य-नियम या क्रम-नियम का वशवर्ती होता है । ऐसे दो क्षण भी नहीं हो सकते जिसमें कोई एक सत् जैसा है वैसा ही रहे । इस प्रकार बुद्ध ने वस्तु के मौलिक स्वरूप या सत्त्व को ही कालस्वरूप मानकर शाश्वत द्रव्यवाद के स्थान पर क्षणिकभाव या गुणमघातवाद की मस्थापना की । प्रस्तुत मस्थापना में बुद्ध ने चेतन और अचेतन दोनों तत्त्व रखे जिससे जो शाश्वत आत्मवाद की विचारधारा में ओत-प्रोत थे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बुद्ध ने आत्मतत्त्व मानने में इन्कार किया है । और उन्होंने बुद्ध को निरात्मवादी कहा । किन्तु बुद्ध की दृष्टि और थी । उनको शाश्वतवाद की युक्तियाँ भी प्रभावित नहीं कर सकी तो चेतन तत्त्व के निषेध में भी प्रयत्न युक्ति नहीं मिली, इसलिए उन्होंने लोकायत के भूत-चैतन्य जैसे उच्छेदवाद को भी नहीं माना । उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया । उन्होंने पुनर्जन्म, कर्म पुण्यान और मोक्ष सभी को माना है । जीव, आत्मा और चेतन तत्त्व में अन्तर । अपने ढंग में स्थान दिया है ।

एक अन्य-न्याय है कि जैन, साम्ययोग, न्याय-वैशेषिकदर्शन में आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा रही है वेमोक्षार्थक नहीं रही है । जब हम बौद्धदर्शन के तत्त्वनिष्पण के उक्त विचारधाराओं में अध्ययन करते हैं तब हमें आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में निश्चित धारणा नहीं मिलती ।

ग्रन्थों में बौद्ध के पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत वाद का उल्लेख हुआ है।^१ इन मम्मितीय या वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादियों का मन्तव्य था कि पुद्गल या जीवद्रव्य वस्तुतः है। किन्तु जब उनमें पूछा गया कि क्या उसका अस्तित्व 'रूप' सद्गुण है? तब उन्होंने उत्तर में इन्कार किया। 'पुद्गलास्तित्वाद' बुद्ध सघ में आया किन्तु तथागत बुद्ध की मूल दृष्टिबिन्दु के साथ मेल बैठ नहीं सका अतः अन्त में वह केवल नाम मात्र रह गया।

श्रैक्यतिक धर्मवाद और चार्नमानिक धर्मवाद

पुद्गलनैरात्म्यवाद सम्यक् रूप से विकसित हो रहा था। उसे शाश्वत आत्मवादियों के सामने टिकना था, उनके आक्षेपों का तर्क पुरस्सर उत्तर देना था और साथ ही पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष की बुद्धिग्राह्य व्याख्या करनी थी, अतः सर्वारितवाद अस्तित्व में आया। उसने उस 'नाम' तत्त्व का 'चित्त' पद में भी प्रयोग किया और उस चित्त या वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सघात को अनेक महजात या आगन्तुक, साधारण-असाधारण अंशों में—धर्मों में विभक्त करके उसका निरूपण किया। वह 'सर्वास्तित्वाद' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। प्रस्तुतवाद ने चित्त और उसकी विविध अवस्थाओं का बहृत ही बारीकी में विश्लेषण किया। क्षणिकवाद में चिपके रहने पर भी भूत-भविष्य को स्वीकार कर प्रत्येक क्षणिक चित्त एवं चैतन्य की श्रैक्यतन्त्रा अपनी दृष्टि में स्थापित की।^२ पुनः इस वाद के मामले में विरोध हुआ कि बुद्ध तो क्षणिकवादी और केवल वर्तमान को ही मानते हैं तो फिर उनके साथ श्रैक्यतन्त्रा की संगति किस प्रकार बैठ सकती है? श्रैक्यतन्त्रा को तदन्तर पुनः शाश्वतवाद की स्थापना करनी है। उसी विचार प्रक्रिया में शीघ्रान्तिकवाद ने जन्म लिया। उसने सर्वास्तित्वाद की श्रैक्यतन्त्रा की मर्यादा को मान्य रखा। केवल जिन धर्मों को सर्वास्ति

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन ने आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक सोपान पार किये हैं और अन्त में योगाचार सम्मत विज्ञप्तिमात्रवाद में वह प्रतिष्ठित हुआ है। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित एवं कमलशील जैसे महान् दार्शनिकों ने इसे बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रबल प्रयास किया।^१

बौद्ध-परम्परा की सभी शाखाओं ने स्वसम्मत चित्तसन्तान या जीव का वास्तविक भेद माना है। विज्ञानाद्वैतवादी, जो विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नहीं मानते हैं, उन्होंने भी विज्ञानसन्ततियों का परस्पर वास्तविक भेद मानकर देहभेद में जीवभेद की मान्यता का अनुसरण भी किया है।^२

चित्त, विज्ञानसन्तति, या जीव के परिमाण के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन ने अपना कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किया है। जिसके आधार में साधिकार यह कहा जा सके कि वह अणुवादी है या देहपरिमाणवादी है तथापि विमुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में 'चित्त या विज्ञान का आश्रय 'हृदयवत्थु'^३ कहा है। उसमें यह प्रतीत होता है कि वे हृदयवत्थुनिश्चित विज्ञान के सुप्त दुःखादि रूप असर को देहव्यापी मानते होंगे।

हम लिख चुके हैं कि जैन, सांख्य-योग आदि ने पुनर्जन्म के लिए एक न्यान में द्वितीय स्थान पर जाने वाला सूक्ष्म शरीर माना है। वैसे ही बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय में 'गन्धर्व' का वर्णन है। गन्धर्व का अर्थ है कोई मरकर अपने स्थान पर जाने वाला हो तब गन्धर्व सात दिन तक अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता है। 'कथावत्थु' ग्रन्थ में गन्धर्व की कल्पना के आधार में अन्तराभव शरीर की चर्चा की है। उसके पश्चात् अन्य लोगों ने और बसु-नागसेनो भाषिकों ने अन्तराभव शरीर मानकर उसका समर्थन किया है।^४ परन्तु बौद्धों ने अन्तराभव शरीर न मानकर प्रतिमन्धि की उपस्थिति का उपाय किया है।^५

वास्तविक है। वह ब्रह्म में रवतन्त्र है। उनका मन्तव्य अनन्त नित्य जीव-वाद का है।

भास्कर प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्म के एक परिणाम, कार्य या अण के रूप में जीव को वास्तविक तत्त्व माना है। भले ही ब्रह्म शक्ति से ये परिणाम, कार्य या अण उत्पन्न हुए हो तथापि वे किसी भी दृष्टि से मायावी नहीं हैं।

महाभारत में सांख्यमत के रूप में तीन विचारधाराएं मिलती हैं

- (१) जीवीग तत्त्ववादी।
- (२) रवतन्त्र अनन्त पुरुष मानने वाला पञ्चीस तत्त्ववादी।
- (३) पुरुषों में पृथक् एक ब्रह्मतत्त्व मानने वाला छद्गीम तत्त्ववादी।

पूरा ज्ञात होता है कि इन्हीं तीन विचारों के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधारा का विकास किया और उस विकास यात्रा में उपनिषदों का आधार भी लिया गया है। मक्षेप में जीव सम्बन्धी वेदान्त विचारधारा केवलाद्वैत, मत्स्योपाधि-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अविभागाद्वैत, गुह्याद्वैत, एवं अचिन्त्यभेदाभेद जैसी मुख्य रूप में अद्वैत धर्मी परम्पराओं में प्रवर्तमान हैं और द्वैतवाद के रूप में भी उमें सम्मर्पण मिलता है।

केवलान्वैत में जीव की सख्या के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं है। कितने ही विज्ञो ने एक जीव मानकर एक ही शरीर को सजीव कहा और अन्य शरीर को निर्जीव। कितने ही विज्ञो ने जीव के एक ही होने पर भी दूसरे शरीरों को सजीव कहा है। कितने ही विज्ञो ने जीव अनेक माने हैं। सिद्धान्त विन्दु में मधुसूदन सरस्वती ने एव वेदान्तसार में सदानन्द ने सक्षेप में उल्लेख किया है।

भास्कर का अभिमत है कि ब्रह्म अपनी नाना शक्तियों से जगत् के समान जीव के रूप में भी परिणत होता है। जीव ब्रह्म का परिणाम है और वह क्रियात्मक होने से सत्य है। ब्रह्म एक है और उसके परिणाम अनेक हैं। एकत्व और अनेकत्व में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। जिस प्रकार एक ही समुद्र तरंगों के रूप में अनेक दिखाई देता है वैसे ही जीव ब्रह्म के अंग और परिणाम हैं। अज्ञान जहाँ तक रहता है वही तक उनका अस्तित्व है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब वे अणुपरिमाण जीव ब्रह्म-अभेद का अनुभव करते हैं।

विशिष्टान्वैत पर चिन्तन करते हुए रामानुज ने जगत् के समान जीव का मूल में ब्रह्म के अव्यक्त शरीर के रूप में वर्णन किया और फिर उस अव्यक्त को अनुक्रम से व्यक्त-जीव और व्यक्त-प्रपञ्च के रूप में घटित किया है। अव्यक्त चित् शक्ति व्यक्त-जीव रूप प्राप्त करता है और प्रवृत्ति भी मग्नता है। प्रवृत्ति प्रवृत्ति का मूल स्रोत पर ब्रह्म नारायण है।

सामान्य नियमों पर ब्रह्म को अभिन्न स्वरूप मानकर के भी उमरों के रूप में परिणाम मानते हैं, अतः वे भेदाभेदवादी होने से बचते हैं। एक ही पवन स्थान भेद होने से विविध रूप में प्रवाहित होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक जीवों के रूप में परिणत होता है। सामान्य और आरोपित नहीं मानते।

मन्त्रव्य है कि प्रवृत्ति के समान पृथक् अनादि और

समानार्थक प्रयोग हुआ है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बहुत अन्तर है। दो बार क्रिया शब्द का प्रयोग विचार-भेद को प्रकट करता है। जब हम यह कहते हैं कि आमाशय की क्रिया का नाम पाचन तब पाचन और आमाशय की क्रिया अभिन्न प्रतीत होती है किन्तु जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया पर चिन्तन करते हैं तब उस क्रियामात्र को चेतन नहीं समझते। चेतना का चिन्तन करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया ध्यान में नहीं आती, अतः ये दोनों घटनाएँ एक नहीं हैं। पाचन में आमाशय की क्रिया का परिज्ञान होता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय ये अलग-अलग नहीं किन्तु एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क एवं शरीर के सम्पूर्ण अवयव चेतनाई तत्त्व से निर्मित हैं। जड़ से कभी भी चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इस भाव को व्यक्त करते हुए पादरी वटलर लिखते हैं—‘आप हाइड्रोजन तत्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्व के मृत परमाणु, फास्फोरस तत्व के मृत परमाणु और वारुद की भाँति उन समस्त तत्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क निर्मित हुआ है, ले लीजिए। चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान-यून्य हैं, फिर चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, वे बन रहे हैं। इस शून्य यान्त्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। आप यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है। उस यान्त्रिक क्रिया से उन मृत परमाणुओं में बोध, विचार एवं भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा फार्मो के सटोटाटाने में होमर कवि या बिलियम गैट्स के सपनाओं में गणित डिफरेंशियल कैल्कुलस (Differential Calculus) का जन्म होता है। आप मनुष्य की जिज्ञासा का—

‘‘... your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorus atoms, and all other atoms dead as brains of shot, and you should imagine them separate and send them together and forming all imaginable combinations.’’

‘‘... your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorus atoms, and all other atoms dead as brains of shot, and you should imagine them separate and send them together and forming all imaginable combinations.’’

(४) मस्तिष्क पर आघात होने से सम्पूर्णशक्ति मन्द होती है।

(५) मस्तिष्क का कुछ विशेष भाग जिसका सम्बन्ध मानसिक शक्ति के साथ है उसकी क्षति होने पर मानसिक शक्ति क्षीण होती है।

विचारों का शरीर पर प्रभाव

शरीर और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रतिफल-प्रतिफलान्तरात्मकता करने में एवं बौद्धिक श्रम करने में शरीर कृश होता है। सुख और दुःख का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। क्रोध आदि में रक्त विपाक होता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मानसिक और शारीरिक शक्तियों का परस्पर सम्बन्ध है। दोनों शक्तियाँ पृथक् हैं। वे विगट्ट पदार्थों के बीच कार्य-कारण किस प्रकार है इस समस्या का समाधान नहीं कर सके हैं।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर ये दोनों मजातीय नहीं हैं। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है, शरीर जड़ है और रूपवान है। प्रश्न यह है कि चेतन और अचेतन का, जो विलक्षण ही विरोधी है उनका परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जेनदर्शन ने इस प्रश्न का समाधान दिया है। ममानुस जितनी भी आत्मा है वे सूक्ष्म और स्थूल उन दोनों प्रकार के शरीरों में विभक्त हैं। एक जन्म में दूसरे जन्म में जाते समय स्थूल शरीर नहीं रहता पर सूक्ष्म शरीर बना रहता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा जन्म धारण करता है। और सूक्ष्म शरीर एवं आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। अपर्याप्तपूर्वी का तात्पर्य है जहाँ पर पहले और पीछे का विभाग नहीं, पूर्णतया नहीं। माराश यह है कि उनका सम्बन्ध अविच्छिन्न है। माराश अरथा में जीव कथञ्चित् मूर्त भी है। कथञ्चित् मूर्त नहीं है पर शरीर धारण करता है। माराश दशा में जीव और शरीर का सम्बन्ध होता है। अतः उनका सम्बन्ध होना सम्भव है। अतः अविच्छिन्न दशा में प्रकट होता है। अमूर्त बनने के पश्चात् शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता।

आधुनिक विज्ञान और आत्मा

आधुनिक विज्ञान आत्मा को मन में पृथक् नहीं मानता। मन और शरीर का एक ही मानने से। मन और शरीर

नहीं कर सकते। फोटो के नेगेटिव प्लेट के समान मरितष्क वर्तमान के चित्रों को अंकित कर सकता है, सुरक्षित रख सकता है किन्तु भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। "यह क्यों है ? यह है तो ऐसा होना चाहिए, इस प्रकार नहीं होना चाहिए, यह वही है, इसका परिमाण इस प्रकार होगा।" यह साग चिन्तन मिथ्य करता है कि कोई स्वतन्त्र चेतनात्मक शक्ति का अस्तित्व है। प्लेट की चित्रावली में नियमन होता है। उसमें प्रतिबिम्बित चित्र के अनिश्चित कुछ भी नहीं होता किन्तु मानव-मन पर यह नियम लागू नहीं होता। वह भूतकाल की धारणाओं के आधार पर चिन्तन कर निष्कर्ष निकालता है और भविष्य का मार्ग मुनिर्णय करता है अतः प्रग्नत दृष्टान्त में मानव-क्रिया की शक्ति नहीं बैठ सकती।

विज्ञान में जो अभूतपूर्व प्रगति की है वह प्रगति अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व है। ये आविष्कार किसी दृष्ट-वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं अपितु स्वतन्त्र-मानस की तर्कणा के कार्य हैं। एतदर्थ स्वतन्त्र-चेतना का विकास और अस्तित्व मानना चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टि में १०२ तत्त्व हैं। वे सभी तत्त्व मूर्त हैं। उन्होंने लाख नमूने भी प्रयोग किये हैं वे सभी मूर्त-द्रव्यों पर किये हैं। अमूर्त-तत्त्व अद्विग-व्यक्त नहीं हो सकता और न उस पर प्रयोग ही हो सकते हैं। तत्त्व मूर्त हैं एतदर्थ वैज्ञानिक भौतिक साधनयुक्त होने पर भी उसका प्रयोग नहीं हो सकता। भौतिक साधनों में आत्मा का अस्तित्व-नाशित्व नहीं जाना जा सकता। जरीर पर किये गये प्रयोगों में आत्मा की स्थिति





पिण्ड है, वह रूपी है अतः उसे देखा जा सकता है, उसका विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु आत्मा अरूपी है, इन्द्रियो में उसे नहीं देख सकते। अतएव जीवकोषो में आत्मा की उत्पत्ति बताना अनुचित है। आत्मा के जो अमर्य्य प्रदेश बताये गये हैं वह केवल आत्मा का परिमाण जानने के लिए हैं। वह आरोपित है, वास्तविक नहीं। आत्मा अखण्ड द्रव्य रूप है। उसमें कभी भी सघात-विघात नहीं होता। एक धागा भी कपड़े का उपकारी है उसके अभाव में कपड़ा पूर्ण नहीं होता किन्तु एक धागा ही कपड़ा नहीं है। कपड़ा समुदित धागाओं का नाम है। वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं है। अमर्य्य चेतन प्रदेशों के पिण्ड का नाम ही जीव है।

चैतन्य आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। यह गुण आत्मा के अति-नित्य किसी भी द्रव्य में नहीं है, अतएव आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सन्-बोनों घटते हैं। पदार्थ वह है जो सत् हो, पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को छोड़ता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न छोड़े। आत्मा का ज्ञान-प्रवाह निरन्तर प्रवाहित है। वह उपाद-व्यय युक्त होने पर भी शुद्ध है।

जार्ज बर्कले ने विश्व की सत्ता को तीन भागों में विभक्त किया (१) आत्मा और उसका बोध, (२) परमात्मा, (३) बाह्य पदार्थ। उसके अनुसार आत्मा कदापि चिन्तन या चेतना के अभाव में नहीं रह सकता।

डेकार्ट, लॉक और बर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयंसिद्ध माना है। उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ह्यूम ने आत्मा को भी प्रकृति की तरह एक कल्पना मात्र माना है। फ्रीखटे ने 'मैं हूँ' से प्रकट किया कि 'मैं' ज्ञेय में भिन्न है। मैं और ज्ञेय एक दूसरे में ओतप्रोत है।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के सम्बन्ध में अनुसंधान किये हैं किन्तु अभी तक वे किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाये। आज भी आत्मा उनके लिए पहली बनी हुई है। यह पहली कब बुझेगी निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

पक, किट्टू तथा चिकनी दोमट) यहाँ ये भेद अत्यन्त वैज्ञानिक हैं।^१ प्रजापना में भी मृदु पृथ्वी के सात प्रकार बताये हैं।

कठिन पृथ्वी—भूतल-विन्यास (टैरेन) और करंबोपलो (ओरिम) को छत्तीस भागों में विभक्त किया गया है—

- (१) शुद्ध पृथ्वी
- (२) शर्करा
- (३) बालुका—बलुई
- (४) उपल—कई प्रकार की जिलाएँ और करंबोपल
- (५) जिला
- (६) लवण
- (७) ऊप—नीली मिट्टी
- (८) अयम्—लोहा
- (९) ताम्र—ताँबा
- (१०) त्रपु—जस्त
- (११) मीमक—मीसा
- (१२) मय—चाँदी
- (१३) मुवर्ण—मोना
- (१४) वज्र—हीरा
- (१५) इग्निता

साधारण शरीरी वनस्पति के अनेक प्रकार हैं, जैसे—कन्द, मूल आदि।

त्रस जीव छह प्रकार के हैं—

१ अग्नि	} गतित्रस	४ त्रीन्द्रिय
२ वायु		५ चतुरिन्द्रिय
३ द्वीन्द्रिय		६ पचेन्द्रिय

अग्नि और वायु की गति अभिप्रायपूर्वक नहीं होती, इसलिए केवल गमन करने वाले त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करते हैं।

अग्नि और वायु ये दोनों सूक्ष्म और स्थूल रूप से दो-दो प्रकार हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और स्थूल जीव लोक के अमुक भाग में हैं।^१ स्थूल अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अगार, मुमुक्षु, शुद्ध, अग्नि, अचि, ज्वाला, उत्का, विद्युत् आदि।^२

स्थूल वायुकायिक जीवों के भेद उस प्रकार हैं—(१) उत्कलिक (२) मण्डलिका (३) घनवात, (४) गुञ्जावात, (५) शुद्धवात (६) मक्तावान।^३

अभिप्रायपूर्वक जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे मुड़ना, मुड़ना जाना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौटना—ये सभी क्रियाएँ हैं जो आगति और गति के विज्ञाता हैं वे सर्वत्रस हैं।^४

अग्नि परिभाषा के अनुसार त्रस जीवों के चार प्रकार हैं—(१) त्रीन्द्रिय, (२) चतुरिन्द्रिय, (३) पचेन्द्रिय। ये स्थूल होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव

तत्त्व और अधर्म-द्रव्य का प्रयोग स्थिति सहायक-तत्त्व के रूप में भी हुआ है। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी भी दार्शनिक ने इस पर चिन्तन नहीं किया है। आधुनिक वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of Motion) को माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने गति-तत्त्व की संस्थापना करते हुए कहा—लोक परिमित है, लोक से परे अलोक भी परिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उम शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है। वैज्ञानिकों ने जिसे ईथर—गति तत्त्व—कहा है उसे ही जैन-साहित्य में धर्म-द्रव्य कहा है।^१

तथापि उसकी वह क्रिया बिना पानी के नहीं हो सकती। पानी के अभाव में तैरने की शक्ति होने पर भी वह नहीं तैर सकती। इसका अर्थ है कि पानी तैरने में सहायक है। जब मछली तैरना चाहती है तब उसे पानी की सहायता लेनी ही पड़ती है। यदि वह न तैरना चाहे तो पानी बल-प्रयोग नहीं करता। उसी तरह जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्मद्रव्य की सहायता लेनी पड़ती है।

हम वर्तमान दृष्टि से धर्मद्रव्य के सहाय को समझना चाहें तो ट्रेन और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। ट्रेन के लिए पटरी की सहायता जैसे अनिवार्य रूप में अपेक्षित है वैसे ही जीव और पुद्गल द्रव्य के लिए धर्म द्रव्य अपेक्षित है।

गति और स्थिति में दोनों ही क्रियाएँ सहजरूप से जीव और पुद्गल में ही पायी जाती हैं। इनका स्वभाव न केवल गति करना है और न स्थिति करना ही है। किसी समय किसी में गति होती है तो किसी समय किसी में स्थिति होती है। लोक में चारों प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं (१) स्थिति में गति को प्राप्त होने वाले (२) गति में स्थिति को प्राप्त होने वाले (३) हमेशा स्थिर रहने वाले और (४) हमेशा गति करने वाले। उर्गान्तर गति और स्थिति में दोनों स्वाभाविक हैं। दोनों यथार्थ हैं, दोनों में निगम भिन्न-भिन्न माध्यम मानना तर्कसंगत है।

प्रश्न है कि धर्म के समान अधर्म को भी लोक व्यापक मानेगे तो वे दोनों एक दूसरे में मिल जायेंगे, फिर दोनों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहेगा ।

उत्तर है कि एक से अधिक तत्त्वों के सर्वव्यापक होने पर भी उनमें अपने-अपने कार्य की दृष्टि में भिन्नता है । जैसे अनेक दीपकों के प्रकाश एक दूसरे से मिल जाने पर भी उनमें पृथक्ता रहती है । परस्पर मिल जाने पर भी उनमें से किसी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, वैसे ही धर्म और अधर्म के लोकव्यापक होने पर भी उनमें से किसी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता ।

कितने ही आधुनिक विद्वान् अधर्म की तुलना, या समानता 'गुरुत्वाकर्षण' (gravitation) एवं फील्ड (field) के साथ करते हैं किन्तु डाक्टर मोहन लाल जी मेहता का मन्तव्य है कि गुरुत्वाकर्षण और फील्ड से अधर्म पृथक् और एक स्वतन्त्र तत्त्व है ।

आचार्य सिद्धमेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को अनागम्य मानते हैं । उनका अभिमत है कि ये दोनों द्रव्य नहीं, द्रव्य के पर्याय मान हैं ।^१

दो-दो प्रदेशों की वृद्धि करती हुई असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अनु-दिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों में होता है। उसमें अन्त तक चार ही प्रदेश रहते हैं किन्तु वृद्धि नहीं होती।^१

जो व्यक्ति जहाँ है, उस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्वदिशा है जिस ओर सूर्यास्त होता है वह पश्चिम दिशा है, उस व्यक्ति के दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा है और बाये हाथ की ओर उत्तर दिशा है। उन दिशाओं को नाप-दिशा भी कहा गया है।^२

आचाराग निर्युक्ति में निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और भी बताया है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होता है, वह पूर्व दिशा उसका पृष्ठ भाग पश्चिम दिशा और दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक दिशा कहा है।^३

स्मरण रखना चाहिए कि दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा दिशाओं की कल्पना की गई है। आकाश के प्रदेशों में पक्तियाँ सभी तरफ कपड़े में तन्तु के समान श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश कहलाता है। उस नाप में आकाश के अनन्त प्रदेश है। यदि हम पूर्व, पश्चिम आदि का व्यवहार होने में दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानेंगे तो पूर्व देश, पश्चिम देश, उत्तर, आदि व्यवहारे में 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना होगा, फिर प्रांत, विभाग आदि अनेक स्वतन्त्र द्रव्यों की कल्पना करनी होगी, जो उचित नहीं है।



जाता है।^१ जैनदर्शन की आकाश सम्बन्धी मान्यता और कान्ट की विचार-धारा में इतना-सा साम्य है कि दोनों ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

प्लेटो, अरस्तु ने आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित माना है। प्लेटो ने 'कोरा' तत्त्व को माना है। अरस्तु का मन्तव्य है कि भौतिक पदार्थ के अभाव में आकाश को स्वीकार नहीं कर सकते। डेकार्ट्स का मन्तव्य है कि आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना तर्कसंगत नहीं है।

समीक्षा—आकाश का यदि अस्तित्व है तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र होना चाहिए। भौतिक विश्व सान्त है और आकाश अनन्त है। स्थान प्राप्त करना और स्थान को रोकना, यह भौतिक पदार्थ का गुण है, पर जिसमें स्थान पाया जाता है वह उससे पृथक् है। अनेक पदार्थों का एक ही स्थान में आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर में अनेक स्थानों में आश्रित होना, आश्रय देने वाले तत्त्व को आश्रित तत्त्व से पृथक् कर देता है। जैनदर्शन के अभिमतानुसार आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश पर अनन्त भौतिक पदार्थ आश्रय ग्रहण कर सकते हैं। आकाश अमूर्त है जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण-युक्त होने से मूर्त है। अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कदापि नहीं हो सकता।

नाटानीज आदि कुछ दार्शनिक आकाश को दृश्य पदार्थों का सम मानते हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी प्रस्तुत मान्यता को स्वीकार किया है।

प्लेटो, अरस्तु का मन्तव्य है कि आकाश ज्ञाता (आत्मा) और भूत (पदार्थ) के मिला मिलन एक स्वतन्त्र वास्तविकता है। यह मान्यता जैन दर्शन में भी मिलती है। यही मान्यता न्यूटन के आकाश सम्बन्धी वैज्ञानिक सिद्धांत में भी मिलती है। न्यूटन आदि ने और जैनदर्शन ने आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्यूटन आदि ने आकाश को स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया है।

प्रजापता^१ आदि में काल सम्बन्धी दोनों मान्यताओं का उल्लेख है। उसमें पश्चात् आचार्य उमास्वाति^२, सिद्धसेन दिवाकर^३, जिनभद्रगणी क्षमा श्रमण^४, हरिभद्र मूरि^५, आचार्य हेमचन्द्र^६, उपाध्याय यशोविजय जी^७, चित्तयविजय जी^८, देवचन्द्र जी^९ आदि ज्वेताम्बर विज्ञो ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द^{१०}, पूज्यपाद^{११}, भट्टारक अकलकदेव^{१२}, विद्यानन्द स्वामी^{१३} आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य है वे सभी पर्याय-विशेष के सवेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष है। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय रूप में स्वतः ही परिणत हुआ करते हैं अतः जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।^{१४}

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप में धर्माग्निताय और अधर्माग्निताय को स्वतन्त्र द्रव्य मानने

तन्तु कदापि फट नहीं सकते, इसलिए यह निश्चित है वस्त्र फटने में का भेद होता है ।

सारांश यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है और प्रत्येक तन्तु में अनेक रूए होते हैं उनमें से सर्वप्रथम प्रथम रूआ छिदता है, उसके पश्चात् दूसरे रूए । अनन्त परमाणुओं के मिलन को सघात कहते हैं । अनन्त मघातों का एक समुदाय होता है और अनन्त समुदायों की एक समिति होती है । इस प्रकार अनन्त समितियों के मगठन में तन्तु के ऊपर का एक रूआ तैयार होता है । इनका छेदन अनुक्रम से होता है । तन्तु के प्रथम रूए के छेदन में जितना समय लगता है उसका बहुत ही सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग 'नमय' कहलाता है ।

जिसका विभाग न हो सके

असंख्यात नमय

२५६ आवलिका

२२२३३३ आवलिका

४४६६६६ आवलिका या

माधिम १७ क्षुल्लक भव

या एक श्वागोच्छ्वाग

२ प्राण

२ मातृ

२ मातृ

२ मातृ

—एक समय

—एक आवलिका

—एक क्षुल्लक भव

(मयसे कम आयु)

—एक उच्छ्वास-नि श्वाग

—एक प्राण

—एक रतोक

—एक तव

—एक घटी (२४ मिनट)

—दो घटी अथवा

—६५७३६ क्षुल्लक भव या

१६७७७७ आवलिका या

३७७७ प्राण अथवा

एक घटित (४८ मिनट)

एक अतोरात्रि

एक पक्ष

एक मास

एक वर्ष

एक शत

सकता है, जब तक वह परमाणु के रूप में नहीं पहुँच जाता वहाँ तक वह स्कन्ध है एवं उसके सहवर्ती जितने भी विभाग हैं, वे सभी स्कन्ध हैं।

स्कन्ध-देश

स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई से बुद्धि-कल्पित एक विभाग स्कन्ध-देश कहलाता है। जब हम कल्पना करते हैं कि यह इस पेन्सिल का आधा भाग है, या इस पुस्तक का एक पृष्ठ है, तब वह उस समस्त स्कन्ध रूप पेन्सिल या पुस्तक का एकदेश कहलाता है। सारांश यह है कि हम जिसे देश कहेंगे, वह स्कन्ध से पृथक् नहीं होगा। पृथग्भूत होने पर तो वह स्वतन्त्र स्कन्ध बन जायेगा।

स्कन्ध-प्रदेश

स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश स्कन्ध प्रदेश है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं—परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। वह अविभागी अंश है, सूक्ष्मतम है, जिसका फिर अंश नहीं बन पाता।

परमाणु

स्कन्ध से पृथक् निरञ्ज-तत्त्व परमाणु है। जब तक वह स्कन्धगत प्रदेश कहलाता है और अपनी पृथक् अवस्था में वह परमाणु कहलाता है। ज्ञान्त्रिकों ने परमाणु के स्वरूप को अनेक प्रकार में स्पष्ट किया है परमाणु, पुद्गल अविभाज्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है अविनाशक है। किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका विभाग नहीं सकता। किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र अथवा अस्त्र से उसका क्रमण नहीं हो सकता। न तो तलवार की तीक्ष्ण अनी पर भी रह सकता है न तो किसी भी उपाय से उसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता। जाज्वल्यमान अग्नि से उसका दहन नहीं हो सकता, पुष्करावर्ण महामेघ उसे आर्द्र नहीं कर सकता। अतः परमाणु प्रमाणों में यदि वह प्रविष्ट हो जाय तो उसे वह नहीं मान सकते। परमाणु पुद्गल अनाद्य है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्व है। अतः परमाणु न लम्बा है, न चौड़ा है न

ईस्वी पूर्व ४६०-३७१ है।^१ डिमोक्रिट्स के परमाणुवाद से जैनो का परमाणुवाद बहुतांश में पृथक् भी है। मौलिकता की दृष्टि से तो वह विल्कुल भिन्न है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिट्स का मत है कि आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

जिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—परमाणुवाद वैशेषिकदर्शन की विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीवक आदि द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित कर दिया है।^२ किन्तु हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन परमाणुवाद से पूर्व का नहीं है और न जैनो के समान वैशेषिकों उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टि में प्रकाश ही डाला है। उपनिषद् में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है। “अणोरणीयान् महतो महीयान्” किन्तु परमाणु शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न परमाणुवाद ने न की कोई वस्तु ही उसमें है।

डाक्टर हरमन जेकोबी का अभिमत है कि “ब्राह्मणों की प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं में, जो उपनिषदों में वर्णित हैं, हम अणु सिद्धान्त को उन्नेय तक नहीं पाते हैं और इसलिए वेदान्त सूत्र में जो उपनिषदों की शिक्षा का व्यवस्थित रूप में बताने का दावा करते हैं, उसका सफाई किया गया है। गान्धोग और योग दर्शनों में भी उसे स्वीकार नहीं किया गया है, जो वेदों के समान ही प्राचीन होने का दावा करते हैं। क्योंकि वेदान्त-सूत्र भी इस स्वीकार के नाम से पुकारते हैं किन्तु अणु सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का अनिवार्य भाग है और गान्धोग ने भी उसे स्वीकार किया है। ये दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ हैं। जिसका प्रादुर्भाव साम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा हुआ है न कि वेदों के द्वारा। वेद-विरोधी मतों ने, जैनो ने उसे गहण हिस्से में ही लिखा है। जैनो को प्रथम स्थान देने के क्योंकि वेदों के अन्तर्गत प्राचीन मता का आधार पर ही अपनी परम्परा को स्थापित किया है।

आने वाली घटाओ से भर जाता है। वहाँ पर वादल रूप स्कन्धो का जम घट हो जाता है और कुछ ही क्षणो मे वे बिखर भी जाते है। इस प्रकार स्वाभाविक स्कन्धो के निर्माण का क्या हेतु है ?

यह दृश्य जगत्, जो पीद्गलिक है, परमाणु-सघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध का निर्माण होता है और स्कन्धो से स्थूल पदार्थ बनता है। पुद्गल में सघातक और विघातक ये दोनो शक्तियाँ हैं।^१ परमाणुओ के मेल से स्कन्ध का निर्माण होता है और एक स्कन्ध के विभक्त होने पर अनेक स्कन्ध हो जाते है। यह गलन और मिलन की जो प्रक्रिया है, वह प्राणी के प्रयोग से भी होती है और स्वाभाविक भी होती है। कारण यह है कि पुद्गल की अवस्थायें अनादि-अनन्त नहीं किन्तु सादि-सान्त है। यदि पुद्गल में वियोजन शक्ति का अभाव होता तो सब अणुओ का एक पिण्ड हो जाता और यदि संयोजन शक्ति का अभाव होता तो एक-एक अणु पृथक्-पृथक् रह कर कुछ भी नहीं कर सकते। अनन्त परमाणु का स्कन्ध ही प्राणियो के लिए उपयोगी है।

जैन दार्शनिको ने स्कन्ध-निर्माण की एक सुव्यवस्थित रासायनिक व्यवस्था प्रस्तुत की है, उसका रहस्य इस प्रकार है—

(१) परमाणु की स्कन्ध रूप परिणति में परमाणुओ की स्निग्धता और रक्षता एक मात्र कारण है।

(२) स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल हो स्कन्ध-निर्माण होता है। (यदि उन दोनो परमाणुओ की स्निग्धता में समानता न हो अर्थात् अन्तर हो तो)

(३) यदि परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने में रक्षता न हो तो (यदि उन दोनो परमाणुओ की रक्षता में कम से कम अन्तर हो तो)

(४) यदि परमाणुओ के मिलन में तो स्कन्ध निर्माण होता है, मेल नहीं होता तो नहीं।

पूर्व बताया जा चुका है कि परमाणु की गति अपने आप भी होती है और अन्य पुद्गल की प्रेरणा से भी होती है। निष्क्रिय परमाणु कब गति करेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह निश्चित है कि वह असम्भ्यात काल के पश्चात् अवश्य ही गति करेगा। सक्रिय परमाणु कब गति और क्रिया बन्द करेगा, यह अनियत है। एक समय से लेकर आवलिका के असम्भ्यात भाग समय में, किसी भी समय वह गति एवं क्रिया बन्द कर सकता है। किन्तु आवलिका के असम्भ्यात भाग उपरान्त वह निश्चित रूप में गति क्रिया प्रारम्भ करेगा।

परमाणु-पुद्गल अप्रतिघाती है। वह समीन लोह में निर्मित दीवान को महज रूप से पार कर सकता है। सुमेरु जैसे महान पर्वत भी उसके मार्ग में बाधक नहीं बनते। यहाँ तक कि वह वज्र को भी सहज रूप से पार कर सकता है। वह कभी-कभी प्रतिहत होता है तो इस स्थिति में कि विममा (म्वाभाविक) परिणाम में सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल का यदि किमी अन्य विम्व्रमा परिणाम में सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल में आयतन मयोग हो तो ऐसी स्थिति में वह स्वयं भी प्रतिहत हो सकता है और नाच ही अपने प्रतिपक्षी परमाणु को भी प्रतिहत कर सकता है।^३

परमाणुओं का सूक्ष्म परिणामावगाहन

परमाणु की सबसे चिन्तक शक्ति यह है कि जिस आकाश प्रदेश को वह परमाणु ने भर रखा है, उसी आकाश प्रदेश में दूसरा परमाणु पूर्णतः प्रवेश नहीं कर सकता है और उसी आकाश प्रदेश में सूक्ष्म रूप में प्रवेश करने वाला प्रवेशी शक्ति भी रह सकता है। परमाणुओं की सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति का ही यह चमत्कार है। आचार्य पूज्यपाद न प्रभु।
उसके अन्तर्गत कर फिर उसका सम्यक् समानान्त उम प्रकार किया
उसके अन्तर्गत कर फिर उसका सम्यक् समानान्त उम प्रकार किया
उसके अन्तर्गत कर फिर उसका सम्यक् समानान्त उम प्रकार किया
उसके अन्तर्गत कर फिर उसका सम्यक् समानान्त उम प्रकार किया
उसके अन्तर्गत कर फिर उसका सम्यक् समानान्त उम प्रकार किया

कि कुछ तारे ऐसे हैं, जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओं में भी २०० गुणित है। एक स्थान पर एडिंग्टन ने लिखा है कि एक टन (२००० मैन) न्यूक्लीय पुद्गल (Nuclear Matter) हमारी वास्केट की जेब में नम सकता है। वैज्ञानिकों ने ऐसे तारे का अनुसंधान किया है जिसका घनत्व १० टन (१७३६० मैन) प्रति घन इंच है। इतने अधिक घनत्व का कारण यह है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं (Stripped Atoms) से निर्मित है, जिनमें अणुओं में केवल व्यष्टियाँ ही हैं। कक्षीय कवच (Orbital Shells) नहीं। जैनदर्शन की भाषा में अणुओं का सूक्ष्म परिणमन ही इसका मूल कारण है।^१

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से परमाणु कितना सूक्ष्म है, उसका अनुमान इससे लग सकता है कि पचास लाख परमाणुओं का भार केवल ढाई तोले के लगभग होता है। इसका व्यास एक इंच का दस करोड़वाँ हिस्सा है।

सिगरेट को लपेटने के पतले कागज की मोटाई में एक में एक को सजा कर रखने पर एक लाख परमाणु आ जायेंगे।

धूल के एक नन्हे से कण में दम पदम में अधिक परमाणु होते हैं।

गोटाघाटर को ग्लास में डालने पर उसमें जो नन्ही-नन्ही बूँदें निक्षेपित होती हैं उनमें से एक के परमाणुओं की परिगणना करने के लिए यदि हमें तीन अथवा चार व्यक्तियों को बिठा दें और वे निरन्तर बिना गायें, पीयें और बातें करें, प्रति मिनट यदि तीन सौ की रफ्तार से परिगणना करें तो उस कण में परमाणुओं की गमती मर्यादा को पूर्ण करने में चार महीने का समय लग जायेगा।

(३) आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह ।

(४) तैजस वर्गणा—विद्युत-परमाणुओं का समूह ।

(५) कार्मण वर्गणा—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में परित होने वाले पुद्गलों का समूह, जिससे कार्मण नामक सूक्ष्म शरीर बनता है ।

(६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह ।

(७) वचन-वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह ।

(८) मनोवर्गणा—चिन्तन में सहायक होने वाला पुद्गल-समूह ।

वर्गणा से अभिप्राय है एक जाति के पुद्गलों का समूह । पुद्गलों में ऐसी जातियाँ अनन्त हैं । यहाँ उनकी प्रमुख आठ जातियों का ही निर्देश किया गया है । इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म होते हैं और अनिप्रचय वाले होते हैं । एक पौद्गलिक पदार्थ अन्य पौद्गलिक पदार्थ के रूप में बदल जाता है ।

जैन दृष्टि से वर्गणा का वर्गणान्तर रूप में परिवर्तन भी हो जाता है ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस ये चार वर्गणायें अष्ट स्पर्शी समूह में गण्य हैं । वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं । कार्मण, भाषा और मन ये तीन वर्गणायें चतुःस्पर्शी हैं—सूक्ष्म स्कन्ध हैं । इनमें शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार स्पर्श होते हैं । श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुःस्पर्शी और आहारक दोनो प्रकार की होती है ।

होता और पाली त्रिपिटक साहित्य में भी इस राग-द्वेष के द्वन्द्व को पाप का मूल कहा है।

योग—मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द होता है वह 'योग' है। योगभाष्य आदि ग्रंथों में चित्तवृत्ति के निरोध रूप ध्यान के अर्थ में योग शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु जैनदर्शन में मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया, कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है एतदर्थ इसे योग कहा है और इसके निरोध को ध्यान कहा है। आत्मा सक्रिय है उसके प्रदेशों में मन, वचन और काय के निमित्त से परिस्पन्द होता रहता है। प्रस्तुत क्रिया-तेरहवें गुणस्थान में भी होती रहती है। चौदहवें गुणस्थान में अयोग अवस्था होती है। मन, वचन और काय की क्रिया का पूर्ण रूप से निरोध होता है और आत्मा निर्मल व निश्चल बन जाता है। कर्मजन्य मलिनता और योगजन्य चंचलता नष्ट होने पर मोक्ष होता है। योग आस्रव है, इससे कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का।

आस्रव के दो भेद

सामान्य रूप में आस्रव के दो भेद हैं, एक कपायानुरजित होने से सामान्यरूप का आस्रव है जो बन्धन का हेतु है। दूसरा योग से होने वाला विशेषरूप का आस्रव जिसमें कपाय का पूर्ण अभाव होने में बन्धन का पूर्ण अभाव होता है। कर्मों को तो मगर टिकते नहीं हैं उनका स्थिति बन्ध नहीं होता है। अस्मिता, अहंरति, प्रमाद कपाय ये आन्तरिक दोष हैं। आस्रव का योग से उत्पन्न होता रहता है। योग आस्रव प्रवृत्त्यात्मक है और अयोग से उत्पन्न होता है।



उसका पानी उलीच-उलीच कर बाहर फेक रहा है। दिन-रात अत्यधिक परिश्रम करता है। वह एक ओर से पानी निकाल रहा है दूसरी ओर से नाली के द्वारा पानी का प्रवाह चालू है। इस प्रकार दिन-रात के परिश्रम से जितना तालाब खाली होता है उसके बराबर या उससे अधिक पानी तालाब में भरता भी जा रहा है। इस स्थिति में कितना भी प्रयत्न या परिश्रम किया जाय किन्तु तालाब खाली होने की सम्भावना नहीं है। जब नाली को बन्द करके पानी उलीचा जायेगा, तभी तालाब खाली हो सकेगा।

प्रस्तुत रूपक सवर के लिए समझना चाहिये। आत्मा एक तालाब के सदृश है। उसमें कर्म रूपी पानी भरा है। आस्रव रूप नालों से उसमें दिन-रात कर्म रूप पानी भरता ही रहता है। साधक तप आदि साधनों के द्वारा कर्म रूपी जल को उलीच-उलीच कर निकालने का प्रयास करता है। किन्तु जब तक कर्मों के आने के द्वार को बन्द नहीं करता तब तक कर्म जनमे आत्म-सरोवर खाली नहीं हो सकता। उन नालों को बन्द करना मय तत्त्व है।

सवर के प्रकार

सवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र्य में होती है।^१ नवतत्त्व प्रकरण में सवर की सिद्धि के लिए इन्हीं चम्पुओं का निर्देश किया है,^२ किन्तु क्रम में कुछ अन्तर है।

सवर ती मय्या की अनेक परम्पराएं प्राप्त हैं जैसे—

मय्य रूप में सवर के पाँच भेद हैं^३—

मय्यता — आपसी मान्यता से मुक्त होना।

द्वितीय — अज्ञान प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग करना।

तृतीय — धर्म में प्रति पूर्ण उत्साह होना।

चतुर्थ — श्रद्धा, मान, माया, मोह आदि कपायों का क्षम या उप

मे जीवन-पर्यन्त का भी । उसके इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए, अयावत्-कथिक—जीवन पर्यन्त के लिए, ये दो भेद हैं ।^१

इत्वरिक तप मे समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकांक्षा रहती है । इसलिए इस तप को सावकाश तप भी कहा है और यावत्कथिक तप मे भोजन की कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती इसलिए उसे निरवकाश तप भी कहा है ।^२

इत्वरिक तप के नवकारसी, पीरसी, पूर्वार्ध, एकाशन एकस्थान, आय-विल, दिवस चरिम, रात्रिभोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थभक्त, छट्ठभक्त आदि अनेकानेक भेद हैं ।^३

यावत्कालिक अनशन के पादपोषगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दो भेद हैं ।^४ भक्त प्रत्याख्यान मे आहार के त्याग के साथ सतत स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन मे समय बिताया जाता है । साधक के मन मे सक्नेश नहीं होता । सदा समाधि व प्रसन्नता का भाव मुख पर जगमगाता रहता है । पादपोषगमन मे दूटे हुए वृक्ष की भाँति अचंचल-चेष्टा रहित, एक ही स्थान पर जिग मुद्रा मे प्रारम्भ मे स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा मे स्थिर रहना यदि आँख गुली है तो उसे बन्द नहीं करना । पादपोषगमन मगारा वही कर सकता है जिसका वज्रऋषभनाराच सहनन हो, अनशन मीतार कर पर्यंत शिगर के समान निश्चल रहना सरल नहीं है । आगमान्य सहनन वाता उसे नहीं कर सकता । चौदह पूर्वो का विच्छेद होने पश्चात् पादपोषगमन अनशन का भी विच्छेद हो जाता है ।^५

ऊनोदरी

ऊनोदरी का उगार भेद ऊनोदरी है । ऊन—कम, उदर—पेट, गुण मे ऊनोदरी है । उदर—कटी उसे अवमोदय भी कहा है । उसे अपमोदय भी कहा जाता है । आहार के समान कपाक,



उत्तेजना पैदा करने वाले होते हैं।^१ दूध, दही आदि रसों को विगय भी कहा है।

दूध, दही, घी आदि विगय क्यों हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—इनके खाने से विकार पैदा होते हैं। उससे मनुष्य समय से भ्रष्ट होकर विगति (दुर्गति) में जाता है। अतः ये पदार्थ सेवन करने वाले में विकृति एवं विगति दोनों के हेतु हैं। इस कारण इन्हें विगड कहा जाता है।^२

साधक के लिए पीण्डिक आहार सर्वथा वर्ज्य नहीं है। वह आवश्यकता-नुसार विगय आदि का सेवन भी करता है किन्तु वह उस रस का स्वाद नहीं लेता। स्वाद के लिए आहार को चवाना, चूसना आदि दोष हैं।^३ रस-त्याग के भी विविध रूप बताये हैं।

कायक्लेश

कायक्लेश का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। एक कष्ट स्वकृत होता है और दूसरा परकृत होता है। साधक शरीर पर आसक्त नहीं होता, वह आत्मा और शरीर को पृथक् मानता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—‘यह शरीर अन्य है आत्मा अन्य है। साधक इस प्रकार की तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख और क्लेश देने वाली शरीर की ममता का त्याग करता है।’^४

आत्मवादी साधक यह चिन्तन करता है—‘जो दुःख है, कष्ट है, वह शरीर को है, आत्मा को नहीं। कष्ट से शरीर को पीड़ा हो सकती है, रस आदि में शरीर का नाश हो सकता है—आत्मा का नहीं—नदिव जीवनगमन निश्चित।’ आत्मा का ज्ञानदर्शनमय—चिन्मय रूप है। उसको कभी कोई शक्ति नाश नहीं कर सकती। उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वह अमर, अप्रमत्त, अविनाशक है। उस प्रकार कष्ट आने पर वह निज स्वप्न में रह कर उन कष्टों का भोग नहीं करता।

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रमादवश अनुचित कार्य कर ले पर मन में पश्चात्ताप होना और उसकी शुद्धि के लिए गुरुजनो के साम स्वयं का दोष प्रकट कर उसकी शुद्धि की प्रार्थना करना और गुरु जो शुद्धि बताये उसके अनुसार तपश्चरण आदि करना प्रायश्चित्त है। राजनीति में अपराधी को दण्ड दिया जाता है। प्रथम तो वह अपराध स्वीकार नहीं करता और कदाचित् स्वीकार भी कर ले तो उसके मन में उसके प्रति पश्चात्ताप और ग्लानि नहीं होती। यदि दण्ड मिल भी जाता है तो प्रसन्नतापूर्वक उसका पालन नहीं करता।

प्रायश्चित्त के स्थानाङ्ग में दस प्रकार बताये हैं।^१ प्रायश्चित्त से दोषों का प्रक्षालन होता है, हृदय विशुद्ध होता है। प्रायश्चित्त वही लेता है जिसका हृदय सरल होता है।

विनय

विनय का सम्बन्ध हृदय से है। वह आत्मिक गुण है। जैन साहित्य में विनय शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत हुआ है।

(१) विनय—अनुशासन।

(२) विनय—आत्मसंयम—शील—सदाचार।

(३) विनय—नम्रता एवं सद्व्यवहार।

स्थानाङ्ग वृत्ति में आचार्य अभयदेव ने लिखा है—जिससे आठ कर्म नष्ट हो जाय (विनय-दूर होना) होता है, अर्थात् विनय आठों कर्मों को दूर करता है। उन्मेष चार गति का अन्त होकर मोक्ष गति प्राप्त होती है।^२

स्थानाङ्गोद्धार की वृत्ति में लिखा है—विनयति क्लेशकारकमाप-
रम्भं च तद्विनिगमं क्लेश पैदा करने वाले अष्टकर्म शत्रुओं को जो
हार कर देता है।^३

अपराधों आदि आगम साहित्य में ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्य
विनय, वचनविनय, कायविनय और लोकोपचार विनय आदि
विनय प्रकार बताये हैं।^४

^१ अ. १. १. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०.

^२ अ. १. १. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०.

^३ अ. १. १. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०.

^४ अ. १. १. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. (ग) श्रीपादविनय-निराकरण

होने वाला स्वरूप लाभ ही मोक्ष है ।^१ आत्मा का अभाव या चैतन्य का उच्छेद कदापि मोक्ष नहीं हो सकता । रोग की निवृत्ति का अर्थ आरोग्य-लाभ है न कि रोगी की निवृत्ति या समाप्ति है ।

ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद नहीं

वैशेषिकदर्शन बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार इन नव विशेष गुणों के उच्छेद को मोक्ष मानता है । उसका यह मन्तव्य है कि इन विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा और मन के सयोग से होती है । मन के सयोग के नष्ट हो जाने से वे गुण मोक्ष अवस्था में समुत्पन्न नहीं होते जिससे वह निर्गुण हो जाता है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार और सासारिक सुख-दुःख से सभी कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं । अतः मोक्ष में उनकी सत्ता नहीं रहती किन्तु बुद्धि—ज्ञान, जो आत्मा का निजगुण है उसका सम्पूर्ण रूप से उच्छेद किस प्रकार माना जा सकता है । जो नसार अवस्था में मन और इन्द्रिय के सयोग से स्वरूप ज्ञान होता था वह मोक्ष में नहीं होता किन्तु जो स्वरूप भूत चैतन्य है, इन्द्रिय और मन से परे है उसका उच्छेद किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । वैशेषिकदर्शन निर्वाण अवस्था में आत्मा की स्वरूपस्थिति मानता है और वह स्वरूप उसका इन्द्रियातीत चैतन्य है । ससार अवस्था में वही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदि के निमित्त से विविध विषय वाली बुद्धि के रूप में परिणत करता है पर जब उन उपाधियों में मुक्त हो जाता है तो स्व-स्वरूप में तीन गोना स्वरूपीक है । जैनदर्शन भी कर्म के क्षयोपशम में समुत्पन्न क्षयोपशमिक ज्ञान और कर्मजन्य सुख-दुःखादि का निनाश मोक्ष अवस्था में मानता है किन्तु ज्ञानादि गुण का नहीं ।^२

निर्वाण

परम्परा में मोक्ष शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है । उसका भी अर्थ मोक्ष ही होता है । अनादि काल में जिन कर्मों में आत्मा आरत होता था वह मोक्ष है । बन्धन के कट जाने पर आत्मा पूर्ण स्व-स्वरूप में आता है । बौद्ध परम्परा में निर्वाण शब्द का अर्थ

^१ 'मोक्ष' शब्द का अर्थ 'निर्वाण' है ।

^२ 'मोक्ष' शब्द का अर्थ 'निर्वाण' है ।

मोक्ष शब्द का अर्थ 'निर्वाण' है ।

को प्राप्त कर अव्यावाध सुख के धनी होते हैं। सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करने के कारण वे सिद्ध हैं। सर्वतत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं। ससार समुद्र को पार करने के कारण पारगत हैं। हमेशा सिद्ध रहेंगे अतः परम्परागत हैं। जन्म-जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हैं। वे अव्यावाध सुख का अनुभव करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है कि लोक के अग्रभाग पर पहुँचकर जीव परम सुखी होता है।

मोक्ष आत्म-विकास की चरम एवं पूर्ण अवस्था है। पूर्णता में किसी प्रकार का भेद नहीं होता, अतः मुक्तात्माओं में भी कोई भेद नहीं है। प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन और अनन्तगुणों से परिपूर्ण है। सिद्धों में जो पन्द्रह भेदों की कल्पना की गई है वह केवल लोक-व्यवहार की दृष्टि से है, किन्तु मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—‘स्यात्’ शब्द सत्य का प्रतीक है।^१ और इसी कारण जैनाचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कहीं स्यात् शब्द का प्रयोग न दृष्टिगोचर हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिये।^२

स्याद्वाद-दृष्टि विविध अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता-अनित्यता, सदृशता-विसदृशता, वाच्यता-अवाच्यता, सत्ता-असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका मुन्दर एवं बुद्धिसंगत समन्वय प्रस्तुत करती है।^३

साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कह दिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि में विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।^४ इस प्रकार स्याद्वाद श्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट किया है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक हैं। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है जब कि स्याद्वाद श्रुत होने से असाक्षात् ज्ञान कराता है।^५

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

जगत् की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में जो परस्पर विरुद्ध विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनका अध्ययन करने पर जिज्ञासु को घोर निराशा होना स्वाभाविक है। इन विचारों में एक पूर्व की ओर जाता है तो दूसरा परिणाम ही होता है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासु अपनी आस्था स्थिर करे तो किम पर? किम पर? और किसे अन्तर्मुखिक स्वीकार करे? आखिर ये दार्शनिक विचारों की विषय में एकमात्र गती होने। आत्मा जैसे मूलतत्त्व ने सम्पूर्ण मनुष्य को आकाश पानाग का अन्तर है। चार्वाकदर्शन आत्म-

१. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

२. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

— अक्षयसिंह, पृ. १००।

३. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

४. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

५. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

— अक्षयसिंह, पृ. १००।

६. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

७. समन्तभद्र, अ. १, पृ. १००।

— अक्षयसिंह, पृ. १००।

का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओं, उत्त-
झनों और भ्रमणाओं के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। अपेक्षा
विशेष से पिता को पुत्र, पुत्र को भी पिता, छोटे को भी बड़ा, बड़े को भी
छोटा यदि कहा जा सकता है तो अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही। अने-
कान्तवाद वह न्यायाधीश है जो परस्पर-विरोधी दावेदारों का फैसला बड़
ही सुन्दर ढंग से करता है और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनों को ही
न्याय मिलता है। पूर्वकालीन महान् दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अमल-
हरिभद्र आदि ने अनेकान्तदृष्टि का अवलम्बन करके ही सत्त्व-अमल-
नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विरोधी
वादों का तर्कसंगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध, व्यापक,
बुद्धिसंगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से देखने पर गति
एव एकांगी वस्तु के स्थान पर हमें सर्वाङ्गीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोचर हो
लगती है। अनेकान्तदृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, इसी कारण
वह पूर्ण सत्य की ओर ले जाती है।

अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयगम करके ही जैन-दार्शनिकों
ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। वस्तुतः वह समस्त दार्शनिकों
का जीवन है, प्राण है। जैन-आचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना
का परिचय देने हुए कहा है—एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं, किन्तु बुद्धिगत
समन्वय है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामनिशान नहीं रहता।
दार्शनिकों की भी समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त दृष्टि में उसी प्रकार विलीन हो
जाती हैं जैसे विभिन्न दिशाओं से आने वाली सरिताएँ सागर में एकात्म्य
हो जाती हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों में कहा जा सकता
है—‘मैं तो अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता। वह
मैं तो समस्त दर्शनों को उस प्रकार वास्तव्य की दृष्टि में देखता हूँ जैसे कोई
विद्वान् पुत्र को देखता है। अनेकान्तवादी न किसी को न्यून और न
किसी को अधिक समझता है—उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव
में वह सबके समान है और सब का अधिकारी नहीं है जो अनेकान्तवाद का आ

एकान्त के गन्दले पोखर से दूर रहकर अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर में अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनो का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य दर्शनों पर अनेकान्त की छाप

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भाग्य तीर्थ दार्शनिकों ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनो पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप में अंकित हुई है। असल में यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसंगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वत्र उपेक्षा की ही नहीं जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् में आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है—'तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यत'। अर्थात् आत्मा चलती भी है और नहीं भी चलती है, दूर भी है, समीप भी है, वह सब के अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

क्या वे उद्गार स्याद्वाद से प्रभावित नहीं हैं? भले ही शंकराचार्य और रामानुजाचार्य एक वस्तु में अनेक धर्मों का अस्तित्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते हैं, मगर जब वे अपने मन्तव्य का निरूपण करने लगते हैं तब स्याद्वाद के असर में वे भी नहीं बच पाते। उन्हें भी अनन्यता स्याद्वाद का आभास लेना पड़ता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रूप की कल्पना में अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने सत्य की परमात्मता, अनात्मता और प्रविभागमय के रूप में जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें अनेकान्त की छाप ही होती है। वे कहते हैं—'दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्माणम्'। अर्थात् इस लोक में दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु निर्माण नहीं है और न निर्माण है। आशय यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु में किसी अपर वस्तु का ही निर्माण अथवा गृण भी है। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का ही लक्षण है।

इसी प्रकार अनेकान्तवाद पर प्रकाश किया गया—'आप विद्वान् है या नहीं? यदि नहीं तो आप श्रद्धा—'दार्शनिक क्षेत्र में विद्वान् और व्यापारिक क्षेत्र में श्रद्धा—'अनेकान्तवाद नहीं तो क्या है?

नहीं है, केवल विवक्षाभेद है। अनेकान्तदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-त्रौव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नहीं है।^१

जब कभी कोई पूर्व परिचित व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित होता है तब हम कहते हैं 'यह वही है।' वर्षा होते ही भूमि शय्य-श्यामला हो जाती है, तब हम कहते हैं—हरियाली उत्पन्न हो गई। हमारे हाथ में कपूर है यह देखते-ही देखते उड़ जाता है, तब हम कहते हैं, वह नष्ट हो गया। 'यह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई'—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है और 'वह नष्ट हो गया'—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परिणामवाद, आरम्भवाद और समुत्पत्तिवाद आदि अनेक विचार हैं। उसके विनाश के सम्बन्ध में भी रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि अनेक अभिमत हैं। सांख्यदर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण में सत् मानता है। सत् कर्मवाद के अभिमतानुसार जो अमत् है उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो सत् है उसका विनाश नहीं होता, किन्तु केवल रूपान्तर होता है। उत्पत्ति का तात्पर्य है—सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है—सत् की अव्यक्ति। न्याय-वैशेषिकदर्शन आरम्भवादी है। वह कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानता। असत् कार्यकारण के मतानुसार अमत् की उत्पत्ति होती है और सत् का विनाश होता है। एतद्दर्शन ही नैयायिक ईश्वर को कूटस्थनित्य और दीपक को सर्वथा अनित्य मानने में है। बौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवों का समूह है, तथा अणु अणु निर्गुण है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नहीं है। वे दर्शन एतन्मन्त्र नित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष में उपस्थित हैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। और जो दर्शन एकान्त अनित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष में उपस्थित हैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। एतद्दर्शन ही नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य माना है और वे ही विनाश की ओर बौद्धों ने गन्तव्य मानकर उनके प्रमाणों को स्वीकार किया है।

एतद्दर्शन ही नैयायिक रूपान्तरवाद के सिद्धान्त को एकमत में स्वीकार करते हैं। वे ही मानते हैं, जवानों पर कुछ ही क्षणों में उमर बढ़ती है।

१. 'यह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई'—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है और 'वह नष्ट हो गया'—यह विनाश का सिद्धान्त है।

से विवेचना है। उस विश्व में ऐसा द्रव्य नहीं जो सर्वथा ध्रुव हो, और ऐसा भी द्रव्य नहीं है जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। दीपक, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव जो स्थायी है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और दीपक में कोई अन्तर नहीं है।^१

केवल स्थिति ही होती तो सभी द्रव्यों का एक ही रूप रहता, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। केवल उत्पाद और वय ही होता तो केवल उनका क्रम होता किन्तु स्थायी आधार के अभाव में उनका कुछ भी रूप नहीं होता। कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई विवेचना नहीं होती। स्याद्वाद की दृष्टि से परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है। परिवर्तनरहित किसी भी प्रकार का स्थायित्व नहीं है और स्याद्विपरि-रहित किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं है। अर्थात् परिवर्तन स्थायी में होता है और स्थायी वही हो सकता है जिसमें परिवर्तन हो। साराण्य कहते हैं कि निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है उसे ही द्रव्य कहा गया है। अपने केन्द्र में प्रत्येक द्रव्य ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारों ओर परिवर्तन की एक श्रृङ्खला है जिसे हम परमाणु की रचना से समझ सकते हैं। विज्ञान के अनुसार अणु की रचना तीन प्रकार के कणों में मानी गई है—(१) प्रोटोन (२) इलेक्ट्रोन (३) न्यूट्रोन। धनात्मक कण प्रोटोन है। परमाणु का वह मध्यनिन्दु होता है। ऋणात्मक कण इलेक्ट्रोन है। यह धनाणु के चारों ओर परिक्रमा करता है। उदासीन कण न्यूट्रोन है।

आत्मा का शरीर से भेदाभेद

आत्मा का शरीर से भिन्न है अथवा अभिन्न है, उस विषय में भी दर्शन में मतभेद है। जैन दर्शन में आत्मा के उपलब्ध होने के लिए चारों ओर से निवारण करना पड़ता है। वह शरीर में चेतना की उत्पत्ति करता है और शरीर का विनाश होने पर चेतना का भी विनाश हो जाता है।

^१ अथवा अथवा अथवा

... ..

... ..

... ..

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चारों चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान् है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।^१

उदाहरण के लिए एक स्वर्णघट को लीजिए। वह स्वर्ण का बना है यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व है। वह जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान में रखा है, उस क्षेत्र की अपेक्षा से है। जिस काल में उसकी सत्ता है, उस काल की अपेक्षा से है। उसमें जो पीत वर्ण आदि अनेक पर्याय विद्यमान हैं, उनमें अपेक्षा से है। किन्तु वही घट मृत्तिकाद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। अन्य क्षेत्र की अपेक्षा में भी नहीं है। कालान्तर की अपेक्षा से भी नहीं है। कृष्णवर्ण आदि पर्यायों में भी उसमें अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार स्वर्णघट सोने का है, मृत्तिका आदि का नहीं है। अमुक क्षेत्र में है, अन्य क्षेत्र में नहीं है जिस काल में है उसके अतिरिक्त अन्य काल की अपेक्षा से नहीं है। वह अपने स्वपर्यायों से है, पर-पर्यायों से नहीं है। इस प्रकार स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उसमें अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते हैं।

कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझ कर एक ही वस्तु में दोनों का समन्वय असम्भव मानते हैं। मगर वे भूल जाते हैं कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाय तभी उनमें विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओं में विधान करने में कोई विरोध नहीं होता। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि यह मनुष्य है मनुष्येतर नहीं है, भारतीय है, पाश्चात्य नहीं है, वर्तमान में है, मराठों या मराठे रहने वाला नहीं है, विद्वान् है, मूर्ख नहीं है, तो क्या हम उस व्यक्ति के विषय में परस्परविरोध विधान करते हैं? नहीं। यह विधान न मान्यमान है, अपितु व्यवहारगत भी है। हम प्रतिदिन उसी प्रकार व्यवहार करते हैं। ऐसा व्यवहार किये बिना किसी वस्तु का निन्दन तो न हो सकता। 'यह पुस्तक है' ऐसा निश्चय तो तभी संभव है, जब हम यह मानते हैं कि यह पुस्तक है अनिश्चित अन्य कुछ नहीं है।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ मनु और अमनु किम प्रकार है, वह मनु है या अमनु है। मगर जैनाचार्यों ने इस विचार को गुप्त रख रखा है।

पश्चाद्वर्त्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हेमनन्द, वादिदेव आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रतिपादन-क्रम को कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद या सप्तभगी का विकासक्रम समझ लिया है किन्तु तथ्य यह है कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञमूलक है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्करो के ज्ञान में जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उनके प्रधान शिष्य शब्दबद्ध करते हैं^१ और फिर उनके शिष्य-प्रशिष्य उसने एक-एक अंग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों की रचना करते हैं। इस प्रकार तत्त्वविवेचन का क्रम आगे बढ़ता है। इस विवेचनक्रम को तत्त्व का विकासक्रम समझ लेना युक्तिसंगत नहीं है।

इस युग में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हुए हैं। उन्होंने जो उपदेश किया वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थङ्करो ने किया। वही उपदेश कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यों द्वारा जैन साहित्य में लिपिबद्ध किया गया है। किसी भी विषय का सक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसी लेखक की सक्षेपरुचि अथवा विस्ताररुचि पर निर्भर करता है। उसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। सासतीर में दार्शनिक साहित्य में ऐसा भी होता है कि कोई लेखक जब किसी विषय के ग्रन्थ की रचना करता है तो अपने समय तक के विरोधी विचारों का उसमें उल्लेख करता है और अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी करता है। जैन दार्शनिक साहित्य में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिकोण होती है। इस प्रतिपादनक्रम को अगर कोई मूल तत्त्व का विकासक्रम समझ ले तो वह गलती में पड़ती जाती होगी।

दार्शनिक विज्ञान आदि० जे० बन्ध उसी भूत के शिकार हुए हैं।
 १. स्याद्वाद के निरूपणक्रम को स्याद्वाद का विकासक्रम समझ लिया है।
 २. स्याद्वाद के अंगों की सृष्टि कर देनी है। जब उन्होंने स्याद्वाद के अंगों
 ३. विचारणा करना ही तो दूसरी भूल यह हो गयी कि वे साधारण
 ४. विचारणा-विषय का अनुकरण अथवा विकास समझना
 ५. विचारणा-विषय का अनुकरण अथवा विकास समझना

सप्तभगी मे पदार्थों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया है, सिर्फ उसके स्वरूप की नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है कि वह पर-रूप मे नहीं है। सप्तभगीवाद हमें सतरगी पुष्पो से सुशोभित विचार वाटिका मे विहार कराता है, तो बौद्धों का निपेधवाद पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर के शून्य के घोर एकान्त अन्धकार मे ले जाता है। अन्भव उसको कोई आधार प्रदान नहीं करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सप्तभगी का बौद्धों के चतुष्कोटिनिपेध के साथ नेशमात्र भी सरोकार नहीं है।

स्याद्वाद संशयवाद नहीं

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना ही सम्भव नहीं है किन्तु एक साथ अनन्त धर्मों का निर्वचन नहीं हो सकता। दूसरे धर्मों का विधान और निपेध न करते हुए किसी एक धर्म का विधान करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चित है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन मे संशय को कोई स्थान नहीं है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई मे न उतरने वाले कुछ लोग, यह भ्रमपूर्ण धारणा बना लेते है कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्ररूपणा करता है।

वस्तुतः 'स्यात्' शब्द का अर्थ न 'शायद' है, न 'सम्भवतः' है और न 'तर्भावात्' जैसा हो है। वह तो एक सुनिश्चित सापेक्ष दृष्टिकोण का स्रोत है। प्रो० नारद उपाध्याय ने लिखा है—'अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं है। परन्तु उसे 'सम्भवतः' के अर्थ मे प्रयुक्त करना चाहते है, मगर यह भी सत्य नहीं है।

संन्यासार्थ ने अपन भाष्य मे स्याद्वाद को संशयवाद कहकर भी उसका प्रामाण्य प्रमाण दी थी, उसकी परम्परा अब भी बहुत अंशों मे चल रही है। सिद्धार्थमर कण्ठभूषण अधिकारी ने आचार्य शास्त्र की भाँति स्याद्वाद के विषय में लिखा है—“जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को ग्रहण करने

सकता ।^१ किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समझ यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है । आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—‘आप कीन हैं ?’ तो वे उत्तर देते—‘मैं संन्यासी हूँ ।’ पुनः प्रश्न किया जाता—‘आप गृहस्थ हैं या नहीं ?’ तो वे कहते—‘मैं गृहस्थ नहीं हूँ ।’ अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप ‘हूँ’ भी और ‘नहीं हूँ’ भी कहते हैं, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है ? तब आचार्य को अनन्यगत्या यही कहना पड़ता—“संन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नहीं हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरों में विरोध नहीं है ।”

वस, यही उत्तर स्याद्वाद है । सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएँ तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे—मैं संन्यासी हूँ और संन्यासी नहीं हूँ, यह कहना विरुद्ध है किन्तु मैं संन्यासी हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है ।

नयवाद

नयवाद को स्याद्वाद का स्तम्भ कहना चाहिए । स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का अभिव्यजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा में नय के नाम से अभिहित होते हैं । पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । नन्तु के उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का बोधक अभिप्राय या ज्ञान नय है ।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का ।^२ निम्न एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न ग्रहण करता है और न विज्ञान ही करता है । निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है । विज्ञान करने पर प्रमाण की कोटि में परिगणित हो जाता है । नय और अप्रमाण दोनों से भिन्न प्रमाण का एक अणु है, जैसा ममद्र का

^१ “... अथवा युगपद् सदमत्त्वादिविषयधर्ममणोऽपि सम्भवति नो ।”

—भा. २. १०

^२ “... प्रमाण नयनं ।”

—भा. २. १०

^३ “... अथवा युगपद् सदमत्त्वादिविषयधर्ममणोऽपि सम्भवति नो ।” —प्रमाणनयनं साक्षात्, भा. २. १०

सप्तभंगी : स्वरूप और दर्शन

अनेकान्तवाद जैनदर्शन की चिन्तन-धारा का मूल स्रोत है, जैन-दर्शन का हृदय है, जैन-वाङ्मय का एक भी ऐसा वाक्य नहीं जिसमें अनेकान्तवाद का प्राण-तत्त्व न रहा हो। यदि यह कह दिया जाय तो तर्क भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जहाँ पर जैनधर्म है वहाँ पर अनेकान्तवाद है और जहाँ पर अनेकान्तवाद है वहाँ पर जैनधर्म है। जैनधर्म और अनेकान्तवाद एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति प्रकरण ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का, अखिल ब्रह्माण्ड का गुरु कहा है। अनेकान्त के बिना ससार का कोई भी व्यवहार समीचीन रूप में सिद्ध नहीं हो सकता।

साम्यदर्शन का पूर्ण विकास प्रकृति और पुरुषवाद में हुआ है। वैश्वदर्शन का उत्कृष्ट विकास चिद् अद्वैत में हुआ है। बौद्धदर्शन का महान् विकास विज्ञानवाद में हुआ है। वैसे ही जैनदर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद में हुआ है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को समझने के पूर्व प्रमाण और नय को समझना चाहिए। प्रमाण और नय तभी अन्वीक्षण में समझ में आ सकते हैं जब सप्तभंगी को ठीक तरह से समझा जाय। प्रमाण और नय की निम्नलिखित अनेकान्त के परिवोध के लिए है और सप्तभंगी की व्याख्या तत्प्रतिपादक वचन पद्धति के परिज्ञान के लिए है। प्रमाण और नय के सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार में प्रकाश डाला जा चुका है। इसीलिए सप्तभंगी के सम्बन्ध में विवेचन करेंगे।

सप्तभंगी

सप्तभंगी क्या है? उसका क्या प्रयोजन है? उसका क्या

सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है

सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है

—सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है सप्तभंगी का अर्थ है

है असद्भावपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।

(५) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नहीं है ।

(६) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है ।

(७) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) आत्माएँ नहीं है ।

(८) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवतत्त्व है ।

(९) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवतत्त्व है ।

(१०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवतत्त्व है ।

(११) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) अवतत्त्व हैं ।

(१२) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी आत्मा नहीं है और अवतत्त्व है ।

(१३) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवतत्त्व है ।

(१४) अनेक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवतत्त्व हैं ।

(१२), (१३), (१४) ये तीन भग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान समझने चाहिए ।

(१५) दो या तीन देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, और दो या तीन देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अतएव पञ्चप्रदेशी स्कन्ध (दो या तीन) आत्माये नहीं है और (दो या तीन) अवक्तव्य है ।

(१६) यह भग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान है ।

(१७) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और अनेक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य है ।

(१८) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है अनेक देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (अनेक) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१९) एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और दो देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (दो) आत्माये नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

(२०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से । अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माये है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

(२१) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है, आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

(२२) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, दो देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है, (दो) आत्माये नहीं है और अवक्तव्य है ।

इसी प्रकार पञ्चप्रदेशी स्कन्ध के २३ भग किये गये हैं, बाकी भग भी इसी प्रकार के समान हैं और २३ वां भग निम्न प्रकार है—

(२३) दो देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः पञ्चप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माये नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

मे निर्दिष्ट है वह मौलिक भगों के भेद के कारण नहीं है किन्तु एकवचन बहुवचन भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत सन्ध्यावर्ग को निकाल दिया जाय तो मौलिक भग सात ही रह जाते हैं। अतएव ये यह कहा जाता है कि आगम मे सप्तभगी नहीं है, वह भ्रममूलक है।

(७) सकलादेश-विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभगी विद्यमान है। आगम के अनुसार प्रथम तीन भंग सकलादेशी हैं और दो चार भंग विकलादेशी हैं।

भंग कथन-पद्धति

शब्दशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और निषेध ये दो वाच्य होते हैं। प्रत्येक विधि के साथ निषेध और प्रत्येक निषेध के साथ विधि जुड़ी रहती है। एकान्त रूप से न कोई विधि संभव है और न कोई निषेध ही। उकारार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ उकारार रहा हुआ है। विधि और निषेध को लेकर जो सप्तभगी बनती है। वह इस प्रकार है—

- (१) स्याद् अस्ति ।
- (२) स्याद् नास्ति ।
- (३) स्याद् अस्ति-नास्ति ।
- (४) स्याद् अवक्तव्य ।
- (५) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य ।
- (६) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य ।
- (७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

आगम सप्तभगी मे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये मूल तीन भग हैं। इन तीन त्रिसंगी और एक त्रिसंगी इस तरह चार भग मिलाने से बनते हैं। अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य ये तीन भग हैं। मूल तीन भग होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भग ही बनते हैं। जैसा कि पूर्व में बताया गया है। आगम सप्तभगी मे प्राप्ता होता है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है। इनमे सात भगों का प्रयोग होता है। इनमे सात भगों का नाम बताया गया है।

चतुष्टय की परिभाषा

विधि और निषेध से प्रत्येक वस्तु का नियत रूप में परिज्ञान होता है। स्वचतुष्टय से जो वस्तु सत् है वही वस्तु पर-चतुष्टय से असत् है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह चतुष्टय है। स्व-द्रव्य रूप में घट पुद्गल है, चेतन आदि पर-द्रव्य नहीं। स्व-क्षेत्र रूप में कपालादि स्वावयवों में तन्तु आदि पर-अवयवों में नहीं। स्वकाल रूप में वह अपनी वर्तमान पर्यायों में है, किन्तु पर-पदार्थों की पर्यायों में नहीं है। स्वभाव रूप में स्व के लाल आदि गुणों में है, पर-पदार्थों के गुणों में नहीं है।

स्याद्वाद मजरी^२ में व्यवहारदृष्टि को लक्ष्य में रखकर द्रव्य के अपेक्षा पार्थिवत्व, क्षेत्र की अपेक्षा पाटलिपुत्रकत्व, काल की ओषधैश्वर्य और भाव की अपेक्षा श्यामत्व रूप लिखा है।

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में सत् है, पर द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् और असत् होने से बाधा और विरोध नहीं है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है।

प्रत्येक भज्ज निश्चयात्मक है, अनिश्चयात्मक नहीं। इसके लिए कई बार एव (ही) शब्द का प्रयोग भी होता है जैसे 'स्याद् घट अस्त्येव'। यहाँ पर 'एव' शब्द स्वचतुष्टय की अपेक्षा निश्चित रूप से घट का अस्तित्व प्रकट करता है। 'एव' का प्रयोग न होने पर भी प्रत्येक कथन की निश्चयान्तर ही समझना चाहिए। स्याद्वाद सन्देह और अनिश्चय का समर्थक नहीं है। चाहे 'एव' शब्द का प्रयोग हो या न हो किन्तु यदि कोई पदार्थ-प्रयोग स्याद्वाद सम्बन्धी है तो वह निश्चित ही है, वह 'एव' पूर्ण है।

स्यान् शब्द का प्रयोग

निर्गम प्रत्येक भज्ज में स्वधर्म मुख्य होता है और अन्य भज्जों में ही नहीं। मीमांसा और मुख्य की विवक्षा के लिए ही 'स्यान्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यान्' शब्द जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्य स्थापना

अवक्तव्य है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र हैं। अस्ति और नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। वे दोनों किसी एक शब्द के वाच्य नहीं हो सकते और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष में कोई अन्य क्रिया ही हो सकती है। इस प्रकार जैनदर्शन सम्मत मूल भङ्गो की योजना अन्य दर्शनो में भी देखी जा सकती है।

प्रमाण-सप्तभङ्गो

प्रमाणवाक्य को सकलादेश और नयवाक्य को विकलादेश कहते हैं। ये सातो ही भङ्ग जव सकलादेशी होते हैं तब प्रमाणवाक्य और जव विकलादेशी होते हैं तब नयवाक्य कहलाते हैं। इसी आधार से सप्तभङ्गो के भी दो भेद हैं—प्रमाणसप्तभङ्गो और नयसप्तभङ्गो।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है। किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप परिज्ञान करने के लिए उन अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह न तो संभव है और न व्यवहार्य ही है। अनन्त शब्दों का प्रयोग करने के लिए अनन्तकाल चाहिए किन्तु मनुष्य का जीवन अनन्त नहीं है। अतएव समग्र जीवन में भी वह एक भी वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसलिए हमें एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ का बोध करना होता है। यद्यपि वास्तव दृष्टि में ऐसा ज्ञात होता है कि वह एक ही धर्म का कथन करता है। किन्तु अभेदोपचार वृत्ति से वह अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन करता है। अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा साक्षात् धर्म का प्रतिपादन होने पर भी अखण्ड रूप में अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण धर्म का सुगम कथन हो जाता है। इसको प्रमाणसप्तभङ्गो कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यह अभेदवृत्ति या अभेदोपचार क्या करता है? इसमें जाति अनन्त धर्म है और वे परस्पर भिन्न हैं उन गती में समानता आगमन है, तब उसमें अभेद किस प्रकार माना जा सकता है? इसका मुख्य आधार क्या है?

समाधान यह है कि वस्तुत्व के प्रतिपादन की अभेद और भेद दोनों ही हैं। अभेद-जैसी भिन्नता में भी अभिन्नता रहती है। तब भी भिन्नता की अन्वेषणा करती है। अतएव प्रमाणसप्तभङ्गो में अनन्त धर्मों का काल, स्थान, गुण, रूप, आकार, गुणदेश, समान, और शब्द की दृष्टि में धर्म

और अन्य गुणों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए सत्संग की अपेक्षा से सभी धर्मों में अभेद है।^१

(८) शब्द—जैसे अस्तित्व का प्रतिपादन 'है' शब्द द्वारा होता है वैसे अन्य गुणों का प्रतिपादन भी 'है' शब्द से होता है। घट में अस्तित्व है, घट में कृष्णत्व है, घट में कठिनत्व है। इन सब वाक्यों में 'है' शब्द घट के विभिन्न धर्मों को प्रकट करता है। जिस 'है' शब्द से कृष्णत्व का प्रतिपादन होता है उस 'है' शब्द से कठिनत्व आदि धर्मों का भी प्रतिपादन होता है। इसलिए शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य धर्मों में अभेद है।

काल आदि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। अभेद प्रमाण का मूल प्राण है। विना अभेद के प्रमाण का स्वरूप निम्न नहीं हो सकता।

नय-सप्तभंगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु शेष धर्मों का निषेध न कर उनके प्रति तटस्थ रहता है। इसी को 'नय' कहते हैं। नयसप्तभङ्गी नय में होती है, दुर्नय में नहीं। वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद को प्रधानता या भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलात्मक कहलाता है। इसे नयसप्तभङ्गी कहते हैं। भेददृष्टि से नयसप्तभङ्गी में वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है।

काल आदि की दृष्टि से

नयसप्तभङ्गी में गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को गौण और पार्श्व स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है, इसलिए नयसप्तभङ्गी भेद प्राप्त है। जैसे प्रमाणमात्रभङ्गी में काल आदि के आधार पर एक गुण को अन्य गुणों में भेद विवक्षित किया जाता है, वैसे ही नयसप्तभङ्गी में उन्हीं का प्रतिपादन एक गुण का दूसरे गुण में भेद विवक्षित किया जाता है। ११३।

१. नयसप्तभङ्गी में नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु शेष धर्मों का निषेध न कर उनके प्रति तटस्थ रहता है। इसी को 'नय' कहते हैं। नयसप्तभङ्गी नय में होती है, दुर्नय में नहीं। वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद को प्रधानता या भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलात्मक कहलाता है। इसे नयसप्तभङ्गी कहते हैं। भेददृष्टि से नयसप्तभङ्गी में वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है।

बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद में भी उक्त चार पक्षों का उल्लेख मिलता है। सान्तता और अनन्तता, नित्यता और अनित्यता आदि प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। उसी प्रकार इन चारों पक्षों को भी अव्याकृत कहा है। जैसे—

- (१) होति तथागतो पर मरणाति ?
- (२) न होति तथागतो पर मरणाति ?
- (३) होति च न होति च तथागतो पर मरणाति ?
- (४) नेव होति न न होति तथागतो पर मरणाति ?

उक्त अव्याकृत प्रश्नों के अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटक में ऐसे हैं, जो इन चार पक्षों को ही सिद्ध करते हैं—

- (१) सयंकतं दुक्खति ?
- (२) परकतं दुक्खति ?
- (३) सयकतं परकतं च दुक्खति ?
- (४) असयकारं अपरकारं दुक्खति ?

महावीरकालीन तत्त्वचिन्तक सजयवेलट्टिपुत्त के अज्ञानवाद में भी उक्त चार पक्षों की उपलब्धि होती है। सजयवेलट्टिपुत्त इन प्रश्नों का उत्तर न 'हाँ' में देता था और न 'ना' में देता था। किसी भी विषय में उसका ज्ञान भी निश्चय नहीं था। बुद्ध के सामने जब इस प्रकार के प्रश्न आते थे तो वे अज्ञान कह देते थे पर सजय उनसे एक कदम आगे था। वह न 'हाँ' कहता, न 'ना' कहता, न अव्याकृत कहता, न व्याकृत कहता। किसी भी प्रश्न का विशेषण प्रयोग करने में उसे भय सा अनुभव होता था। किन्ती भी विषय में अपना निश्चित मत प्रकट नहीं करता था। वह सजय का ही अनुयायी था। जो स्थान पाश्चात्य दर्शन में 'ह्यूम' का है वही स्थान भारतीय दर्शन में सजय का है। ह्यूम का भी यह मन्तव्य था कि हमारा ज्ञान अज्ञान ही है इसलिए हम किसी अन्तिम तत्त्व का निर्णय नहीं कर सकते। सजय का यह ही मत था कि हमारे ज्ञान के बाहर तत्त्व का निर्णय करना हमारा

भगवान् महावीर ने अपनी विशाल व तत्त्व-स्पर्शिणी दृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को निहारकर कहा—वस्तु मे चार पक्ष ही नहीं होते किन्तु प्रत्येक वस्तु मे अनन्त पक्ष है, अनन्त विकल्प है, अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए भगवान् महावीर ने उक्त चतुर्णांश से विलक्षण, वस्तु मे रहे हुए प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभगी का वैज्ञानिक पद प्रस्तुत किया और अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्तभगी का प्रतिपादन करके वस्तुबोध का सर्वग्राही रूप जन-जन के सामने उपस्थित किया।

भगवान् महावीर से पूर्व उपनिषद् काल मे वस्तु-तत्त्व के सदसद्भाव को लेकर विचारणा चल रही थी किन्तु पूर्णरूप से निर्णय नहीं हो सका था। सजय ने उन ज्वलंत प्रश्नों को अज्ञात कहकर टालने का प्रयास किया। बुद्ध ने कितनी ही बातों मे विभज्यवाद का कथन करके अन्य बातों को अज्ञान कह दिया किन्तु महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की कि चिन्तन के क्षेत्र मे किसी भी वस्तु को केवल अव्याकृत या अज्ञात कह देने मे समाधान नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने अपनी तात्त्विक व तर्क-मूलक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन किया। सप्तभगीवाद, स्याद्वाद, उसी का प्रतिफल है।

निक्षेपवाद : एक विश्लेष

निक्षेप की परिभाषा

मानव अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के वह अपने विचार सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। मानव और पशु में एक बहुत बड़ा अन्तर यही है कि दोनों में अनुभूति होने पर भी पशु भाषा की स्पष्टता न होने से उसे व्यक्त नहीं कर पाता जब कि मानव अपने विचारों को भाषा के माध्यम में भली-भाँति व्यक्त कर सकता है।

विश्व का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नहीं सकता। परस्पर के व्यवहार को अच्छी तरह से चलाने के लिए भाषा का महत्व और शब्द-प्रयोग का माध्यम अनिवार्य है। विश्व में हजारों भाषाएँ हैं और उनके लाखों शब्द हैं। हर एक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं। भाषा के परिज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है, और शब्द-ज्ञान के लिए भाषा-ज्ञान जरूरी है। किसी भी भाषा का सही प्रयोग तभी हो सकता है जब हम उन शब्दों का समुचित प्रयोग करना सीखें।

बुद्ध ने जैन धर्म के शब्दों का नियत अर्थ बताया है। इसे ठीक भाषा में समझना जैन दर्शन की भाषा में निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेपवाद का अर्थ है कि जैन दार्शनिकों ने उस प्रकार बताया है कि शब्दों का अर्थ में कोई भ्रम नहीं है। शब्दों में आरोप करना, अर्थात् जो किसी एक निश्चय या निश्चय के अर्थ में शब्दों को उभे निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है। तत्त्वार्थसूत्र में उक्त है कि 'न्यासो निक्षेपः'। तत्त्वार्थ राजवातिक में 'न्यासो निक्षेपः' उन शब्दों का अर्थ है कि न्यास ही निक्षेप है।

निक्षेप का अर्थ है कि निक्षेप — तत्त्वार्थसूत्र में उक्त है कि 'न्यासो निक्षेपः'। तत्त्वार्थ राजवातिक में 'न्यासो निक्षेपः' उन शब्दों का अर्थ है कि न्यास ही निक्षेप है।



□ नय-वाद : एक अध्ययन

- विचार की आधारभित्ति
- नय विभाग का आधार
- दो परम्पराएँ
- नैगमनय
- नैगमाभास
- सप्रहृतय
- सप्रहाभास
- व्यवहारनय
- व्यवहाराभास
- अनुसूत्रनय
- अनुसूत्राभास
- मन्दनय
- मन्दनपाभास
- समभिन्ननय
- समभिन्नपाभास
- एतद्विषय
- एतद्विषयपाभास
- नयो का एक दूगरे में सम्बन्ध
- अत्यधिक इति मे नय पर विस्तार
- नय और नय
- नय और प्रत्यक्ष इति
- नय और नैगमिक इति
- नय और नय
- नय और नय
- नय और नय
- नय और नय
- नय और नय
- नय और नय

- (४) ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।
 (५) शब्द—यथाकाल, यथाकारक, शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।
 (६) समभिरूढ—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।
 (७) एवम्भूत—वस्तु के कार्यान्तरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

नयविभाग का आधार

अभेद सग्रहदृष्टि का आधार है और भेद व्यवहारदृष्टि का। सग्रहनय भेद को नहीं मानता है और व्यवहारनय अभेद को स्वीकार नहीं करता है। नैगम नय का आधार है—अभेद और भेद ये दोनों एक पर मे रहते हैं, ये सर्वथा दो नहीं हैं परन्तु गौण—मुख्य भाव में दो हैं।^१ दृष्टि में मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है पर गौण है। कभी धर्मो मुख्य बनता है तो कभी धर्म। अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार क्रम में परिवर्तन होता रहता है।

ऋजुसूत्रनय का आधार चरम भेद है। यह केवल वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है। पूर्व और पश्चात् की पर्यायों को नहीं। शब्द भेद के अनुसार अर्थ का भेद होता है, यह शब्दनय की मूल भित्ति है।

प्रयोग शब्द का अर्थ पृथक्-पृथक् है। एक अर्थ के दो वाचक न होने मानने यह समभिरूढनय का आधार है।

एवम्भूतनय के अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उभरी पर्यायों के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढनय अर्थ की क्रिया में अपूर्णता को वाचक मानता है। वह वाच्य और वाचक के प्रयोग में अन्तर मानता है किन्तु एवम्भूत वाच्य-वाचक के प्रयोग को पूर्ण मानता है। उग दृष्टि में मान नयों के विषय में

^१ अर्थ का भेद ही वास्तविक मानता है।
 नयों के अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उभरी पर्यायों के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढनय अर्थ की क्रिया में अपूर्णता को वाचक मानता है। वह वाच्य और वाचक के प्रयोग में अन्तर मानता है किन्तु एवम्भूत वाच्य-वाचक के प्रयोग को पूर्ण मानता है। उग दृष्टि में मान नयों के विषय में

निगम का अर्थ लोक है। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय नैगम है। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' नहीं परन्तु अनेक 'गम' बोधमार्ग है वह नैगम है। सभी वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनों धर्मों में युक्त होती हैं। उनमें जाति आदि सामान्य धर्म हैं और विशेष प्रकार के भेद करने वाले विशेष धर्म हैं। कल्पना कीजिए, सौ घड़े पड़े हुए हैं। उनमें 'दे सव घड़े हैं' यह जो ऐक्य बुद्धि है वह सामान्य धर्म से होती है। 'यह मेरा घड़ा है' इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने घड़ों को पहचान ले, यह विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणों से युक्त मानता है। उसका मन्तव्य है कि विशेष के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष नहीं होता।

किसी व्यक्ति से आपने पूछा—आप कहाँ पर रहते हैं?

उसने कहा—मैं लोक में रहता हूँ।

पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की—लोक तो अत्यन्त विस्तृत है उसमें आप कहाँ रहते हैं?

उसने कहा—मध्य लोक में।

मध्यलोक में भी कहाँ रहते हैं?

जम्बूद्वीप में।

जम्बूद्वीप में भी अनेक क्षेत्र हैं, उनमें से आप किस क्षेत्र में रहते हैं?

भरत क्षेत्र में।

भरत क्षेत्र में भी सैकड़ों प्रान्त हैं, देश हैं, उनमें आप कहाँ रहते हैं?

गण्डाकार के राजस्थान प्रान्त में।

राजस्थान में भी अनेक शहर हैं उनमें आप किसमें रहते हैं?

जयपुर में।

जयपुर भी अनेक गलियाँ तथा मकान हैं, उनमें कहाँ रहते हैं?

अनेक गलीयों में अनेक मन्वर के मकान में रहता हूँ।

अनेक मन्वरों में अनेक कमर हैं, उनमें से किस कमर में रहते हैं?

जयपुर मन्वर के कमर में रहता हूँ।

जयपुर मन्वर की हार्दी क्या है उसमें कहाँ रहते हैं?

जयपुर मन्वर के हार्दी में रहता हूँ।

को औपधि दो, इतना कहने से कार्य नहीं चलेगा, किन्तु औपधि व भी बताना होगा। व्यवहारनय की दृष्टि से कोयल काली है, पर दृष्टि में उसमें पाँचों वर्ण हैं।

व्यवहारनय में उपचार होता है, बिना उपचार के व्यवहार का प्रयोग नहीं होता। व्यवहारनय के दो भेद हैं—सामान्यभेदक और विशेषभेदक। सामान्यसग्रह में दो भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक व्यवहारनय कहते हैं। जिस प्रकार द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। विशेषसग्रह में अनेक भेद करने वाला विशेषभेदक व्यवहारनय कहलाता है, जैसे मसारी जीव के चार भेद हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इस प्रकार व्यवहारनय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ पुनः भेद की संभावना न रहे। इस नय का मुख्य प्रयोजन है व्यवहार में 'मिद्धि'। यह नय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। तो व्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनों से चलता है।

व्यवहारदृष्टि पर्याय को नहीं किन्तु द्रव्य को ग्रहण करती है जो व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए द्रव्य रूप है न पर्यायरूप। इसी कारण व्यवहारनय की परिगणना द्रव्याधिकारनय अन्तर्गत की गई है। नैगम, सग्रह और व्यवहार में तीनों नय द्रव्याधिकारनय के भेद हैं।^१

व्यवहाराभास

लोक विरुद्ध विमनादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने वाले भेद मानना व्यवहाराभास है।^२

द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार नय है किन्तु जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है वह व्यवहाराभास है।^३ चाणक्यदर्शन वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को

^१ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^२ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^३ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^४ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^५ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^६ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

^७ व्यवहारनय या उपचारप्रमाणप्रमाणना ।

अपितु वह सिन्धु का एक अंश है ।^१ एक सैनिक सेना नहीं है किन्तु असेन भी नहीं है क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही । नय के सम्बन्ध में न यही बात चरितार्थ है ।

प्रमाण वस्तु के अनेकान्तात्मक रूप को ग्रहण करता है और नय उस वस्तु के एक अंश को ।

प्रश्न है—यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान हो जायेगा फिर उससे वस्तु का यथार्थ बोध किस प्रकार होगा ?

उत्तर में निवेदन है कि 'नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है यह सत्य है, किन्तु इतने मात्र में वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता । एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेध करे तो यह मिथ्याज्ञान होगा किन्तु जो अंश-ज्ञान अपने में अतिरिक्त अंशों का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है वह मिथ्याज्ञान नहीं है ।

सुनय और दुर्नय

प्रमाण में सभी धर्मों के ज्ञान का समावेश हो जाता है किन्तु नय एक अंश को मुख्य करके अन्य अंश को गौण करता है किन्तु उसी उद्देश्य या तिरस्कार नहीं करता किन्तु दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्य का निषेध करण करता है । प्रमाण^२ तत् और अतत् सभी को जानता है किन्तु नय में केवल 'तत्' को ही प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय दूसरों का निराकरण करता है ।

उपायानि निराते है किसी वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध करने अपने अभीष्ट एतान्न को मित्र करने को दुर्नय कहते हैं ।

^१ नाह वस्तु न चास्तु वस्तुण कस्यते यत् ।

^२ अतत् समस्तं वा समद्राशो यथोच्यते ॥

तन्त्रायं पञ्चोक्त्यात्मिक १६, नयविषय इति ।

^३ अतत् समस्तं वा समद्राशो यथोच्यते ॥ प्रमाणनय दुर्नयानां प्रमाणाभावात् । प्रमाणनय इति तत्त्वप्रतिपत्ति नयप्रतिपत्ति नयनिराकरणम् । - अतत्त्वम् ।

^४ अतत्त्वम् प्रमाणनयप्रतिपत्ति नयप्रतिपत्ति नयनिराकरणम् ।

^५ अतत्त्वम् प्रमाणनयप्रतिपत्ति नयप्रतिपत्ति नयनिराकरणम् ।

^६ अतत्त्वम् प्रमाणनयप्रतिपत्ति नयप्रतिपत्ति नयनिराकरणम् ।

^७ अतत्त्वम् प्रमाणनयप्रतिपत्ति नयप्रतिपत्ति नयनिराकरणम् ।

काम लिया है और जिस जाज्वल्यमान प्रतिभा का परिचय दिया है, वह किसी भी दर्शनान्तर के तार्किकों से कम नहीं है।

तब जैनदर्शन में मन्तव्यभेद न होने का क्या रहस्य है? गभीर विचार करने पर स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इसका सम्पूर्ण ध्येय नयवाद को है। नयवाद के आधार पर अनेकान्तवाद का सुदृढ सिद्धान्त स्थापित हुआ है और उसमें सत्य के सभी अंगों का यथायोग्य समावेश हो जाता है। कोई भी सत्य-दृष्टिकोण अनेकान्तवाद की विशाल परिधि में बाहर नहीं जा पाता। जड और चेतन जगत् की एकता-अनेकता, नित्यता-अनित्यता, सचेतनता-अचेतनता आदि सम्बन्धी मन्तव्य जिन्होंने परस्पर विरोधी बनकर अन्य दर्शनों में सम्प्रदायभेद उत्पन्न किया है, अनेकान्तवाद में अविरोधी बन जाने हैं। अतएव इन विचारों का अनेकान्तवाद में ही अपक्षाभेद से समावेश हो जाता है। यह नयवाद की बड़ी से बड़ी विशेषता है। इस विशेषता का उदारतापूर्वक उपयोग किया जाय तो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दर्शन अविरुद्ध बन सकते हैं, उनमें शत्रुभाव के स्थान पर मित्रभाव स्थापित हो सकता है और खण्डित सत्य के स्थान पर अखण्ड-सम्पूर्ण सत्य की विमल झॉकी प्रस्तुत की जा सकती है।

(३) इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है, और व्यावहारिक दृष्टि में प्रत्यक्ष है।

(४) मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलक ने और अन्य आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—साव्यावहारिक और पारमार्थिक, यह उनकी स्वयं कल्पना नहीं है किन्तु उनकी कल्पना का मूल आधार नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में रहा हुआ है।^१

आभिनवोधिक ज्ञान के अवग्रह आदि भेदों पर बाद के दार्शनिक आचार्यों ने विमर्श में विवेचन किया है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि की इन तार्किकों ने जो दार्शनिक दृष्टि में व्याख्या की है, वैसी व्याख्या आगम साहित्य में नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि आगम युग में इस मन्त्र को लेकर कोई सन्देह नहीं था किन्तु उसके पश्चात् अन्य दार्शनिकों में उन दार्शनिकों को अत्यधिक सन्देह करना पड़ा जिसके फलस्वरूप नवीन युग के तर्क सामने आये। उन्होंने उस पर दार्शनिक दृष्टि में गभीर चिन्ता किया। हम यहाँ आगम व दार्शनिक ग्रन्थों के विमल प्रकाश में पान ज्ञानों पर चिन्तन करेंगे, उसके पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि पर प्रमाण की दृष्टि में विचार किया जायेगा।

मतिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह मतिज्ञान है। अर्थात् जिग ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है उसे मतिज्ञान कहा गया है।^२ आगम साहित्य में मतिज्ञान को आभिनवोधिक ज्ञान कहा है।^३ नन्दासंग्रह में मति, स्मृति, गजा, चिन्ता, अभिनवोधिक ज्ञान कहा है।^४ विशेषावश्यक भाष्य में—ईहा, अपीहा, विमर्श, मार्गज्ञान

अतः यह अर्थ हुआ कि नाम कर्म की रचना विशेष इन्द्रिय है।^१ सारांश यह है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने में सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है, वह माध्यम इन्द्रिय है। जिसकी सहायता से ज्ञान लाभ हो सके, वह इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, और शब्द। इमीन्द्रियों को प्रतिनियत-अर्थग्राही कहा जाता है। जैसे—

(१) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय स्पर्शन ।

(२) रस-ग्राहक इन्द्रिय रसन ।

(३) गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय घ्राण ।

(४) रूप-ग्राहक इन्द्रिय चक्षु ।

(५) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र ।^२

प्रत्येक इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप में दो प्रकार की है।^१ पुद्गल की आकृति विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं।^४ इन्द्रियों में विशेष आकृतियाँ निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की वाता और आन्तरिक पुद्गलिक शक्ति है, जिसके अभाव में आकृति के होने पर भी ज्ञान होना संभव नहीं है, उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी तन्नि और उत्तमोग रूप में दो प्रकार की है।^४ ज्ञानावरण कर्म आदि के क्षयोपशम में प्राप्त होने वाली जो आत्मिक शक्ति विशेष है, वह तन्नि है। तन्नि प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है, वह व्यापार उत्तमोग है।

अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप है, इसलिए पाँच उन्द्रियो और छठम में अर्थावग्रह होता है।

अवग्रह के लिए कितने ही पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। नन्दीमूत्र में अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा शब्द आये हैं।^१ तत्त्वार्थभाष्य में—अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ पट्टण्डागम में अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा ये शब्द अवग्रह के लिए प्रयुक्त हुए हैं।^३

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है और व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के पश्चात् होने वाले ईहा, अवाय में जिनो विशेष धर्मों की मीमांसा हो गई होती है, उसी वस्तु के नूतन-नूतन धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का कार्य है। आप्तों के द्वारा एक धर्म का निश्चय होने के पश्चात् उसी पदार्थ सम्बन्धी अन्य धर्म की जिज्ञासा होती है, उस समय पूर्व का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह हो जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए पुनः ईहा और अवाय होता है। प्रस्तुत क्रम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती।

'यह शब्द ही है' इस प्रकार निश्चय होने पर नैश्चयिक आप्त की परम्परा सम्पन्न हो जाती है। उसके पश्चात् व्यावहारिक-अर्थावग्रह की शरणा आगे बढ़ती है।

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है। (मणय—पशु का मान माना जाता है)

(२) भाषा साफ और स्पष्ट है इसलिए मानन की होगी चाहिए।

(३) अवाय परीक्षा विशेष के बाद निर्णय करना माना जाता है।

१. नन्दीमूत्र, पृ. १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००.

ईहा मे ज्ञान उभयकोटियो मे से एक कोटि की ओर झुक जाता है। मग्न ज्ञान मे उभय-कोटियाँ समकक्ष होती है जबकि ईहाज्ञान एक कोटि की ओर ढल जाता है। यह सही है कि ईहा मे पूर्ण निर्णय या पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता है तथापि ईहा मे ज्ञान का झुकाव निर्णय की ओर बढ़ता होता है। यही सशय और ईहा मे बड़ा अन्तर है।^१ ध्वला मे भी ईहा है—ईहा ज्ञान सन्देह रूप नहीं है क्योंकि ईहात्मक विचार-बुद्धि मे सन्देह का विनाश पाया जाता है।^२ इस प्रकार ईहाज्ञान सशय का परमात्मिक निश्चयीभिमुख ज्ञान है।

नन्दीमूत्र मे ईहा के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए हैं—आभोगन मार्गता, गवेपणता, चिन्ता, विमर्ष।^३ तत्त्वार्थभाष्य मे ईहा, ऊह, उत्तं, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये शब्द आये हैं।^४

अवाय

मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय है। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निर्णय करना अवाय है।^५ दूसरे शब्दों मे विशेष के निर्णय द्वारा जो यथा ज्ञान होना है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पत्तन, निपत्तन, पक्ष-विशेष आदि के द्वारा 'यह वक पक्ति ही है, ध्वजा नहीं,' ऐसा निश्चय होना अवाय है।^६ इसमे सम्यक् असम्यक् की विचारणा पूर्ण रूप से परिपाव हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है।

विशेषावश्यता मे एक मत यह भी उपलब्ध होता है कि जो गुण पदार्थ

- १ नन्दी शब्दा निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कि कारणम् ? खलु सशयः । अशयत्वात् तद्विशेषोपलब्धयर्थमर्थानुमानमीदृशः । सशयः पुनः निर्णयविरोधः । अतः सशयत्वस्योत्तरकान् विशेषोपनिष्ठा प्रति यान्तीति सशयत्वस्योपनिष्ठा । —राजवातिक १/१७, भारतीय ज्ञान १०

- २ नन्दी शब्दा निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कि कारणम् ? खलु सशयः । अशयत्वात् तद्विशेषोपलब्धयर्थमर्थानुमानमीदृशः । सशयः पुनः निर्णयविरोधः । अतः सशयत्वस्योत्तरकान् विशेषोपनिष्ठा प्रति यान्तीति सशयत्वस्योपनिष्ठा । —राजवातिक १/१७, भारतीय ज्ञान १०

—भवन १८—१९

३ नन्दी शब्दा निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कि कारणम् ? खलु सशयः । अशयत्वात् तद्विशेषोपलब्धयर्थमर्थानुमानमीदृशः । सशयः पुनः निर्णयविरोधः । अतः सशयत्वस्योत्तरकान् विशेषोपनिष्ठा प्रति यान्तीति सशयत्वस्योपनिष्ठा । —राजवातिक १/१७, भारतीय ज्ञान १०

—नन्दीमय, मृग १२, पु. २० पु. परि. १०

—नन्दीमय, मृग १२, पु. २० पु. परि. १०

—नन्दीमय, मृग १२, पु. २० पु. परि. १०

प्रमाणमामा १/१७

४ नन्दी शब्दा निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कि कारणम् ? खलु सशयः । अशयत्वात् तद्विशेषोपलब्धयर्थमर्थानुमानमीदृशः । सशयः पुनः निर्णयविरोधः । अतः सशयत्वस्योत्तरकान् विशेषोपनिष्ठा प्रति यान्तीति सशयत्वस्योपनिष्ठा । —राजवातिक १/१७, भारतीय ज्ञान १०

—मार्गनिर्दिष्ट १/१७

जो परम्परा इस ज्ञान को निषेधात्मक मानती है उसमें विशेषरूप में अपाय शब्द का प्रयोग हुआ है।^१

जिस परम्परा में अवाय मात्र विध्यात्मक है उसमें प्रायः अवाय शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ वस्तुतः यह ज्ञान धारणा की कोटि में पहुँचने के पश्चात् ही पूर्ण निश्चित होता है, एतदर्थ ही यह मतभेद है। अवाय में कुछ न्यूनता अवश्य रहती है। विध्यात्मक मानने पर भी उसकी दृढावस्था धारणा में ही मानी है, एतदर्थ दोनों परम्पराओं में विशेष मतभेद की स्थिति नहीं रहती है।^३

धारणा

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। अवाय के पश्चात् धारणा होती है। उसमें ज्ञान इतना दृढ हो जाता है कि उसका सस्कार अन्तरात्मा पर अंकित हो जाता है और इस कारण वह कालान्तर में स्मृति का हेतु बनता है। इसीलिए धारणा को स्मृति का हेतु कहा है।^४ धारणा मम्येय और अमम्येय काल तक रह सकती है।^५ विशेषावश्यक में कहा है—ज्ञान में अविच्युति धारणा है।^६ जिस ज्ञान का सस्कार शीघ्र नष्ट न होत चिरम्यायी रह सके और स्मृति का हेतु बन सके वही ज्ञान धारणा है।

धारणा के तीन प्रकार हैं—

(१) अविच्युति—धारणा काल में जो सतत उपयोग चलता है उसे अविच्युति है। उसमें पदार्थ के ज्ञान का विनाश नहीं होता है।

(२) वासना—उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिणत हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष में उद्बुद्ध होकर स्मृति को उत्पन्न करती है। वासना अपने आप में ज्ञान नहीं है किन्तु

अविच्युति धारणा यथा—'न दाक्षिणाभ्योऽयम्' इत्यप्याय त्याग करोति तं 'प्रोक्षेत्' इत्यप्यभ्योऽयमाभ्योऽयम् इति यदा च 'प्रोक्षेत्' इत्यप्याय करोति तं

इत्यप्याय-या-यम् इत्यप्यायो-यं प्रोक्षेत् ।

१. अविच्युति धारणा, राजधानि प्रत्य

२. अविच्युति धारणा, अविच्युति धारणा, अविच्युति धारणा

३. अविच्युति धारणा, अविच्युति धारणा

४. अविच्युति धारणा

—प्रमाणदीपिका ३५०

५. अविच्युति धारणा, अविच्युति धारणा — न. नील १, पृ. ५५, ५६

६. अविच्युति धारणा

७. अविच्युति धारणा



'व्यजन' के तीन अर्थ हैं—(१) शब्द आदि पुद्गल द्रव्य (२) उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का मेल। व्यजन अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं इन दोनों में व्यजनावग्रह नहीं होता।

बौद्धदर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानता है। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन की विचारधारा इन दर्शनों में भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र में मग्न होता है, वही उसका विषय बनता है। एतदर्थ श्रोत्र को अप्राप्यकारी नहीं कह सकते। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं एतदर्थ दोनों प्राप्यकारी नहीं हो सकते क्योंकि दोनों का ग्राह्य-वस्तु के माध्यम नहीं होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ा है, जिसमें चक्षु अपने विषय का ज्ञान करती है। नैयायिक मानते हैं कि चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि चक्षु की मूष्म-रजियाँ पदार्थ से मग्न होती हैं। विज्ञान इस बात को नहीं मानता। वह आँख को बहुत बढिया लेंस (sensitive lens) मानता है। उसमें दूर की वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। उसमें जैनदृष्टि की अप्राप्यकारिता में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती क्योंकि विज्ञान के अनुसार भी चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। कॉच निर्मल है, उसके सामने जो वस्तुएँ आती हैं। उसमें प्रतिबिम्ब उसमें गिरता है, ठीक उसी प्रकार की प्रक्रिया आग में मांस गिरने पर होती है। कॉच में वस्तु का प्रतिबिम्ब गिरता है वस्तु और प्रतिबिम्ब एक नहीं होते, एतदर्थ कॉच उस वस्तु में मग्न नहीं बनता। ठीक यही बात आँख के लिए भी है।

अर्थात् श्रोत्र, आँख, अवाय और धारणा में चारों पाँच इन्द्रिय श्रोत्र और आँख में होते हैं, आँख में ६-८ भेद होते हैं। व्यजनावग्रह श्रोत्र और आँख को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों में होता है, इसलिए व्यजन प्रमाण है। इन ८-८ प्रकार के ज्ञानों में ज्ञेयार्थ प्रमाण प्रमाण ज्ञान के लिए (१) वस्तु, (२) वस्तुविषय, (३) श्रोत्र, (४) आँख, (५) अर्थात् श्रोत्र, (६) अर्थात् धारणा, (७) अर्थात् धारणा, (८) अर्थात् धारणा।

ज्ञान पूर्व संस्कार से पैदा हुआ, एतदर्थ उसे श्रुत-निश्चित कहा जाता है।^१ ज्ञानकाल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, एतदर्थ इसे श्रुत का चरित्र नहीं माना जाता।

मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान वर्तमान भूत और भविष्य इन तीनों विषयों में प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत विषयों में भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दों के अन्वय नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख युक्त है वह श्रुतज्ञान है और जिसमें शब्दोल्लेख नहीं होता वह मतिज्ञान है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं इन्द्रिय और मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञान व्यापार का प्राथमिक अपरिणत अंश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती-परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो ज्ञान भाषा में उतारने युक्त परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान को पीत दूध कहे तो श्रुतज्ञान को खीर कह सकते हैं।^२

अवधिज्ञान

जिम ज्ञान की सीमा होती है उसे अवधि कहते हैं। अर्थात् केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है।^३ मूर्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्त है, वही अवधिज्ञान का विषय है, अरूपी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं होती। पदार्थों में केवल पुद्गल द्रव्य ही अवधि का विषय है क्योंकि शेष पाँचों द्रव्य रूपी हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। अथवा द्रव्य, दोष, कान और भाव का ज्ञान में उमकी अनेक मर्यादाएँ बनती हैं। जैसे जो ज्ञान इतने द्रव्य का ज्ञान और भाव का ज्ञान कराता है उसे अवधि कहते हैं।^४

१. 'मतिज्ञानम्' - परमेश्वर आगमग्रन्थद्वय । व्यवहारकालात् पूर्ण ज्ञान ।
२. 'उत्तरवर्ती' - मत्तारागम्यावस्थास्य तत् कृतश्रुतानुपकारम्, यत्र अतीत-
ज्ञानस्य पूर्वप्रवृत्तस्य मत्तारागम्यावस्थावत् श्रुतस्यानुपकारः ।
३. 'मतिज्ञानम्' - यत् ।
— विज्ञानावस्थास्य मत्तारागम्यावस्थावत् ।

४. 'मतिज्ञानम्' - यत् ।

उत्तर में निवेदन है कि अवधिज्ञान से लिए अवधिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम आवश्यक है। किन्तु अन्तर यह है कि देवों और नारकों का क्षयोपशम भवप्रत्ययक होता है, वहाँ पर जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो ही जाता है, किन्तु मनुष्य व तिर्यच के लिए यह नियम नहीं है। उन्हें विशेष रूप से नियम आदि का पालन करना होता है तब जाकर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम दोनों में आवश्यक है। अन्तर केवल साधन में है। जो जीव जन्म-ग्रहण करने मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है, जिन्हें इससे निःविशेष श्रम करना पड़ता है उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है। जैसे पक्षियों को जन्म लेते ही उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, पर मानव में नहीं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं—

(१) अनुगामी—जिस क्षेत्र में स्थित जीव को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उससे अन्यत्र जाने पर नेत्र के समान जो साथ-साथ जागृत होता रहे।

(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में जाने पर जो न रहे।

(३) वर्धमान—उत्पत्ति के समय में कम प्रकाश-मान हो और बाद में क्रमशः बढ़े।

(४) हीनमान—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशमान हो और बाद में क्रमशः घटे।

(५) अप्रतिपाती—जीवन-पर्यन्त रहने वाला, अथवा केवल जन्म के समय ही रहने वाला।

(६) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो पुनः चला जाये।

अवधिज्ञान के ये छह भेद स्वामी के गुण की दृष्टि में किए गए हैं। इनके अलावा अवधिज्ञान के क्षयोपशम की दृष्टि से तीन भेद किए गए हैं—

१. अवधिज्ञान

जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली = दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।^१

तीसरी परम्परा चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य मित्रदेव दिवाकर की है। उन्होंने सन्मति तर्क प्रकरण में लिखा है कि मनस्स तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन में भेद सिद्ध करना मभव नहीं है।^२ दर्शनावरण और ज्ञानावरण का युगपद् क्षय होता है। उस क्षय से होने वाले उपयोग में प्रथम होता है, यह वाद में होता है। इस प्रकार का भेद किम प्रकार किया जा सकता है ?^३ केवल्य की प्राप्ति जिस समय होती है उसमें सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है, उसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का युगपद् क्षय होता है। जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों के क्षय में काल का भेद नहीं है तब यह किम कहा जा सकता है कि प्रथम केवलदर्शन होता है फिर केवलज्ञान। इस समस्या के समाधान के लिए कोई यह माने कि दोनों का युगपद् मर्त्य है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। इस समस्या का सबसे सरल व तर्कसंगत समाधान यह है कि दोनों अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता। दर्शन और ज्ञान पृथक्-पृथक् मानने में एक समस्या और उत्पन्न होती है। यदि केवली ही क्षण में सभी कुछ ज्ञान लेता है तो उसे सदा के लिए मन कुल रखना चाहिए। यदि उसका ज्ञान सदा पूर्ण नहीं है तो वह सर्वज्ञ होना नहीं चाहता। यदि उसका ज्ञान सदैव पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह सदा एकस्य है। तहाँ पर दर्शन और ज्ञान में किसी भी प्रकार

१. एतद् अट्ट नाग, हवणाणिमग्ग दग्ग च तट्ठा ।
दिग्गस्यस्यनाग जट्ठ वट्टट्ठ तट्ठ मुण्येव ॥ — नियमसार भाष्य
२. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि य दग्गिणमग्ग य सिग्गे ॥
३. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि नि ज्ञानाणि ॥ य मग्गाणि ॥ — स. म. वि. प. १०
४. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि य दग्गिणमग्ग य सिग्गे ॥
५. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि य दग्गिणमग्ग य सिग्गे ॥ — स. म. वि. प. १०
६. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि य दग्गिणमग्ग य सिग्गे ॥
७. अथ ज्ञानाणि ॥ ज्ञानाणि य दग्गिणमग्ग य सिग्गे ॥ — स. म. वि. प. १०

उपसंहार

इस प्रकार आगमयुग से लेकर दार्शनिकयुग तक ज्ञानवाद पर गहराई से चिन्तन किया गया है। यदि उस पर विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक विराट्काय स्वतंत्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है, पर संक्षेप में ही प्रस्तुत निबन्ध में प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को यह परिज्ञात हो सके कि जैन दार्शनिकों ने ज्ञानवाद पर कितना स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया है।

सवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार करने द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नहीं हो सकते। सवादकज्ञान प्रमेयाव्यभिचारीज्ञान की तरह व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में सत्य-तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णय में सवादकज्ञान आवश्यक नहीं है, सत्य को वह कभी-कभी प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थसिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जब तक फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं हो जाता तब तक सत्य नहीं होता। यह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान का मेल होता है कहीं पर वह सत्य का परीक्षण-प्रतर भी बनता है एतदर्थ उसे अमान्य नहीं कर सकते।

ज्ञान का प्रामाण्य

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और कौनसा मिथ्या है? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते हैं, वह प्रामाण्य क्या है? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभाषा क्या है?

उत्तर है—जैन-तार्किकों ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निराल स्वत या परत माना है। किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वत माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे माधनों का सहारा लेना पड़ता है। मीमांसक स्वत, प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परत प्रामाण्यवादी है। मीमांसकों का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वयं प्रमाणस्वरूप है। वात्स-दोष के कारण ही उसमें अप्रामाण्य आता है। ज्ञान के प्रामाण्य-निर्णय के लिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है और जात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और जति मांगी जाती है, एतदर्थ यह स्वत प्रामाण्यवाद कहता है। नैयायिक परत प्रामाण्यवाद को स्वीकार नहीं करता है। इस दर्शन का मन्तव्य है ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, उसका निर्णय किमी बाह्य आधार में ही लिया जाता है। जो ज्ञान श्रय में अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और अन्यथा वह अप्रमाण है। बाह्य वस्तु ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य निर्णय के लिए ज्ञान अपने-आप में प्रमाण है और न अप्रमाण है, वह वस्तु ही प्रमाण जाना है तब प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय मांगी जाती है। जैन दर्शन है वैसा ही परिणाम होना ज्ञान की प्रमाणता है। जैन दर्शन ज्ञान अप्रमाण है। यह नैयायिकों का प्रमुख निन्द्यार्थ है।

ही एक अंश है। वस्तु भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावांश का ग्रहण करते हैं वहाँ उसके अभावांश का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तु भाव और अभाव इन दो रूपों के अतिरिक्त तीसरे रूप में नहीं मिलती। जिस दृष्टि से एक वस्तु भाव रूप है, दूसरी दृष्टि से वह अभाव रूप है। भाव रूप ग्रहण के साथ अभाव रूप का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव दोनों अंश प्रत्यक्षग्राह्य हैं। अभाव प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में कहे 'इस टेबल पर पुस्तक नहीं है' यह अभाव का दृष्टान्त है। यहाँ पर अभाव प्रमाण पुस्तक भाव को ग्रहण करना है। यह पुस्तकाभाव क्या है? इस पर हम विचार करें तो स्पष्ट होगा कि यह पुस्तकाभाव शुद्ध टेबल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस टेबल पर हमने पूर्व पुस्तक देखी थी, उसी टेबल को ही शुद्ध टेबल के रूप में देख रहे हैं। यह शुद्ध टेबल ही पुस्तकाभाव है, इसका दर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य या स्पष्टता माना है।^१ मिद्धसेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है।^२ उस लक्षण में परोक्ष का स्वरूप जब तक समझ में नहीं आ जाता तब तक प्रत्यक्ष का स्वरूप समझा नहीं जा सकता। अकालमोक्ष न्यायविनिश्चय में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।^३ उनके लक्षण 'साकार' और 'अञ्जसा' पद आये हैं अर्थात् साकार ज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट परमार्थ रूप में विशद हो तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैन दर्शन में वैशेषिकदर्शन की भाँति सन्निकर्ष को या बौद्धदर्शन की तरह कल्पनाभाव का प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना गया है।

वैशद्य किम कहत है? जिस प्रतिभाग के लिए किसी अन्य भाग का

१ (१) मिद्धसेन प्रत्यक्षम् ।

(२) मिद्धसेन प्रत्यक्षम् ।

(३) मिद्धसेन प्रत्यक्षमिति ।

मिद्धसेन प्रत्यक्षमिति ।

मिद्धसेन प्रत्यक्षमिति ।

मिद्धसेन प्रत्यक्षमिति ।

—प्रमाणभाषायाः ।

—प्रमाणभाषायाः ।

—प्रमाणभाषायाः ।

—प्रमाणभाषायाः ।

—प्रमाणभाषायाः ।

□ कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

- कर्मवाद का महत्त्व
- कर्म सम्बन्धी साहित्य
- कर्मवाद व अन्यवाद
- कालवाद
- स्वभाववाद
- नियतिवाद
- यहच्छावाद
- भूतवाद
- पुरुषवाद
- दैववाद
- पुरुषार्थवाद
- जैनदर्शन का मन्तव्य
- कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा
- बौद्धदर्शन में कर्म
- विनाशण वर्णन
- कर्म का अर्थ
- विभिन्न परम्पराओं में कर्म
- जैनदर्शन में कर्म का स्वभाव
- आत्मा और कर्म का सम्बन्ध
- कर्म जीवन बाधना है ?
- कर्म बन्धन के कारण
- निरापन्न और अप्रवृत्तजन्य
- कर्म का कर्तृत्व और भोग्यत्व
- कर्म के मर्यादा
- उदाहरण
- उदाहरण में आने वाले कर्म के हेतु
- दूसरों के द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु
- पुरुषार्थ से भाग्य में परिवर्तन हो सकता है ?
- आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?
- उदीरणा
- उदीरणा का कारण
- वेदना
- निर्जरा
- आत्मा पहले या कर्म ?
- अनादि का अन्त कैसे ?
- आत्मा बलवान या कर्म ?
- कर्म और उसका फल
- ईश्वर और कर्मवाद
- कर्म का संविभाग नहीं
- कर्म का कार्य
- आठ कर्म
- कर्म-फल की तीव्रता मन्दता
- कर्मों के प्रवेश
- कर्म-बन्ध
- बन्ध, सत्ता, उन्नति, उत्थान, अपवर्ण, अपकर्ण, सत्प्रमाण, उत्थान, उदीरणा, उपशमन, निवृत्ति, निवर्तन, अथाथाफल
- कर्म और पुनर्जन्म
- कर्म-बन्धन में मुक्ति का उपाय

कुछ चिन्तन करे और उसके पश्चात् उनको लक्ष्य में रखकर कर्म पर विचार करे। विश्व-वैचित्र्य के कारणों की अन्वेष्टना करते हुए कर्मवाद स्थान पर कितने ही विचारक इस बात की स्स्थापना करते हैं कि ससार की उत्पत्ति का आदि कारण काल है। कितने ही विचारक स्वभाव को ही विश्व का कारण मानते हैं। कितने ही विचारक नियति पर बल देते हैं। कितने ही विचारक यदृच्छा को ही विश्व का कारण स्वीकार करते हैं। कितने ही विचारक पृथ्वी आदि भूतो को ही ससार का कारण मानते हैं तो कितने ही विचारक पुरुष या ईश्वर को ही ससार का कर्ता कहते हैं। सक्षेप में उनका परिचय इस प्रकार है।^२

कालवाद

कालवाद के समर्थकों का मन्तव्य है कि विश्व की सभी वस्तुएं और प्राणियों के सुख और दुःख काल के अधीन हैं। काल से ही भूतो की सृष्टि और सहार होता है। वह शुभाशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाला है। अथर्ववेद में काल नामक एक स्वतन्त्र सूक्त है उसमें लिखा है—काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है, काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आँसे देवता हैं। काल ही ईश्वर है वह प्रजापति का भी पिता है। काल सर्वप्रथम देव है। काल से बढ़कर कोई शक्ति नहीं है।^३ इस सूक्त में काल को सृष्टि का आदि कारण माना है। किन्तु महाभारत में मानव की तो क्या बात सम्पूर्ण जीव मृष्टि के सुख-दुःख, जीवन-मरण इनका आधार काल माना है।^४ जाम्बवतामिमुच्यते में कहा है—किसी प्राणी का मातृगर्भ में प्रवेश करना प्राणायाम्या प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवों से सम्पर्क होना प्रभृति घटनाएँ

^२ राजा स्वभाषे नियतियदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम् ।

मयाग एषा न स्वात्ममात्रादात्माभ्यनीश मुण्डु पठतो ॥

—जीतादत्तपरिणिप ११

(१) दर्शना—श्रामणीमाया पृ० ८६-८४ प० दशगुण मानवनिगा

(२) जैन साहित्य का वृद्धि दर्शनाम, भाग ४, पृ० ८

(३) तैत्तिरीय और दर्शन पृ० ४१६-४२४ आ० मोक्षदान महा॥

—महाभारत, १६, १३-१४

—महाभारत, १६, १३-१४

—महाभारत, १६, १३, १४, १५ आदि

जायेगी।^१ स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक मानता है।^२ वह विश्व की विचित्रता का किसी नियन्त्रक या नियामक को नहीं मानता।

नियतिवाद

नियतिवादियों का अभिमत है कि संसार में जो कुछ होना होता है वही होता है, उसमें किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। घटनाओं में अवश्यम्भावित्व पूर्व-निर्धारित है। संसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ भी मूल्य नहीं है, या दूसरे शब्दों में कहे तो इच्छा-स्वातन्त्र्य नामक कोई वस्तु नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक रिपनोजा का यह मन्तव्य था कि मानव केवल अपने अज्ञान के कारण इस प्रकार विचार करता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ। जो तब भी होने वाला है वह अवश्य होगा। जैसे अतीत को हम बदल नहीं सकते, वैसे ही भविष्य भी बदला नहीं जा सकता, अतः आशा और निराशा झूलने में झूलना उचित नहीं। सफलता मिलने पर किसी की प्रशंसा करना और विफलता प्राप्त होने पर किसी की निन्दा करना उचित नहीं है।

नियतिवाद का सर्वप्रथम उल्लेख ज्येताश्वतर उपनिषद् में मिलता है किन्तु उसमें या अन्य उपनिषदों में इस वाद के सम्बन्ध में कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला गया। परन्तु बौद्ध त्रिपिटको में व जैनग्रन्थों में नियतिवाद के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। दीर्घनिर्णय नामक अत्रफल सुत्त में मखली गोशालक के नियतिवाद का वर्णन करते हुए निर्णय दिया है कि वह मानता था कि प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है। वे कारण के बिना ही अपवित्र होते हैं, उसी प्रकार प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण नहीं, वे बिना कारण ही शुद्ध होते हैं। पापों के कारणों के बिना भी कुछ भी नहीं होता। पुण्य के सामर्थ्य के कारण भी पापों की मर्मा की मर्मा ही भ्रान्त है। वन, वीर्य, शक्ति और परमात्मा का भी नहीं है। जो कुछ भी परित्यक्त होता है वह निर्गुण, निर्गुण

^१ अथर्ववेद १५.१६१-१७२

^२ अथर्ववेद १५.१६१-१७२

अथर्ववेद १५.१६१-१७२

अथर्ववेद १५.१६१-१७२

अथर्ववेद १५.१६१-१७२

के ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। यहच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात्^१ न्यायसूत्रकार के शब्दों में कहे तो यहच्छावाद का अर्थ है अनिर्दिष्ट अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान^२ की उत्पत्ति होती है।^३

यहच्छावाद का उल्लेख हमें श्वेताश्वतर-उपनिषद्,^४ महाभारत^५ शान्ति पर्व^६ में तथा न्यायसूत्र^७ आदि ग्रन्थों में मिलता है। इसमें सिद्ध है कि यह वाद प्राचीन युग में प्रचलित था।

यहच्छावाद, अकस्मात्वाद, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, हेतु^८ आदि वाद एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। इनमें कार्यकारणभाव, कारण^९ हेतुमद्भाव का पूर्णरूप में अभाव है। कितने ही व्यक्ति स्वभाववाद^{१०} यहच्छावाद को एक ही मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं^{११} चूँकि इन दोनों में यह भेद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण मानते हैं पर यहच्छावादी कारण की सत्ता का ही निषेध करते हैं।^{१२}

भूतवाद

भूतवादियों का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु^{१३} चार भूतों से ही सभी चेतन-अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जहाँ^{१४} चेतन का मूल आधार चार भूत है। भूतों के अतिरिक्त अन्य कोई^{१५} चेतन और अचेतन नामक वस्तु संसार में नहीं है। दूसरे दर्शनकार^{१६} आत्मतत्त्व कहते हैं उसे भूतवादी भौतिक कहते हैं। उनका मानना^{१७} आत्मतत्त्व उन्हीं चतुर्भूतों की एक परिणति विशेष है, जो परि^{१८} विशेष से उत्पन्न होती है और जब वह परिस्थिति नहीं रहती है तो^{१९} नाश हो जाती है। जैसे कि अनेक प्रकार के छोटे-बड़े पुर्णों में एक म^{२०} तैयार होती है और उन्हीं के परस्पर संयोग से उसमें गति भी आ^{२१} और कुछ समय के पश्चात् पुर्णों के घिस जाने पर वह टूटकर फिर न^{२२} है, उसी प्रकार यह जीवन-मृत्यु भी है।

१ न्यायमाध्य ३।२।३१

२ न्यायसूत्र ४।१।२२

३ श्वेताश्वतर उपनिषद् १।७

४ महाभारत ११, शान्ति पर्व ३३।७३

५ न्यायसूत्र ४।१।२२

६ न्यायसूत्र का १० परिभाषण का अनुवाद ४।१।२४

कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ और चेतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म होकर भावकर्म उसमें जड़ और चेतन नामक दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड़ और चेतन के मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती। स्व और भावकर्म में पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता भिन्न है किन्तु एक-दूसरे के सदभाव और असदभाव का कारण मुक्त नहीं है। द्रव्यकर्म में पौद्गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भावकर्म में आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओं का शुद्ध मिश्रण माने तो कर्म और पुद्गल में अन्तर ही क्या रहेगा? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म में भेद क्या रहेगा?

उत्तर में निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोग्यत्व पर चिन्तन करते समय संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोग्यत्व का सम्बन्ध संसारी आत्मा में ही मुक्त आत्मा से नहीं है। संसारी आत्मा कर्मों में बंधा है, उसमें चैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है उसमें तिरुस चैतन्य ही होता है। बद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे से मिला मिल जाते हैं, नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि संसारी आत्मा में भी जड़ और चेतन का मिश्रण है और कर्म में भी वही बात है? तब तो कर्म में अन्तर क्या है? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अणु जीवात्मा का चेतन अणु और जड़ अणु कर्म कहलाता है। ये चेतन और जड़ अणु अलग-अलग ही हैं। इनका संयोग-अवस्था में अलग-अलग रूप में अनुभव होता है। इसका पृथक्करण सुलभावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा में जड़ अणु ही होता है। जब वह कर्म में मग्न हो जाता है तब कर्म में ही चेतन अणु आत्मा कहलाता है। कर्म जब आत्मा में प्रविष्ट होता है तब वह कर्म ही शुद्ध पुद्गल कहलाता है। आत्मा में कर्म प्रविष्ट होता है और द्रव्यकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। भावकर्म में ही आत्मा और पुद्गल का मेलन भव्य होता है।

दृष्टि से यह पूर्ण सत्य है कि बँधा हुआ ही बंधता है, अबँधा हुआ नहीं बंधता है।

गीतम—भगवन् ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है ?

भगवान्—गीतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता।^१

गीतम ने पूछा—भगवन् ! कर्म कौन बाँधता है ? सयत, असयत अथवा सयतासयत ?

भगवान् ने कहा—गीतम ! असयत, सयतासयत और संयत ये सब कर्म बाँधने हैं। तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा है वे ही कर्म बाँधती हैं उन्हीं पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्मबंध के कारण

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणों से बँधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गीतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्मबंध कैसे करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गीतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।^२

‘मगानान्’, ‘समवायान्’ में तथा उमाम्वाति ने कर्मों के कारण बताये हैं— (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कपाय और योग।^३

महाप्रहृष्टि में कर्म बंध के दो कारण हैं—कपाय और योग।^४

^१ भगवन् १/१२६६

^२ प्रमाण २/११२६०

^३ अदुःख ६/१०

^४ अदुःख १/११२६०

^५ अदुःख १/११२६०

^६ अदुःख १/११२६०

करता है और व्यवहारनय ससारी आत्मा जो कर्म में युक्त है उसका प्रतिपादन करता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारनय में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों की विषयवस्तु भिन्न-भिन्न हैं, उन क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि निरूपण नहीं हो सकता। वह मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि शुद्ध अर्थात् का ही प्रतिपादन कर सकता है।

कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कितने ही चिन्तकों ने निश्चय और व्यवहारनय की मर्यादा विस्मृत करके निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निष्कर्ष किया है जिससे कर्मसिद्धान्त में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। इन समस्याओं का कारण है ससारी जीव और मुक्त जीव के बीच का विरमरण और साथ ही कभी-कभी कर्म और पुद्गल का अन्तर भुला दिया जाता है। उन चिन्तकों का मन्तव्य है कि जीव न तो कर्म का कर्ता है और न भोक्ता ही है, चूँकि द्रव्य कर्म पीद्गलिक है, पुद्गल के विकार है इसलिए पर है। उनका कर्ता चेतन जीव किम प्रकार हो सकता है? चेतन का कर्म चेतनरूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतनरूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतनरूप होने लगेगा तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर महान् मकर दोष उपस्थित होगा। इसलिए प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है पर-भाव का कर्ता नहीं।

प्रस्तुत कथन में ससारी जीव को द्रव्य कर्मों का कर्ता व भोक्ता माना नहीं गया कि कर्म पीद्गलिक है। यह किम प्रकार माना जा सकता है? चेतन जीव अचेतन कर्म को उत्पन्न करे? इस हेतु में जो ससारी जीव आत्मा है उसको शुद्ध चैतन्य मान लिया गया है और कर्म को शुद्ध पुद्गल माना है। किन्तु मध्यमव्य यह है कि न ससारी जीव शुद्ध चैतन्य है और न पुद्गल शुद्ध पुद्गल ही है। ससारी जीव चेतन और अचेतन द्रव्यों का मिश्रण है। यही तरह कर्म भी पुद्गल का शुद्ध रूप नहीं अपितु पुद्गल का विकार है। ससारी जीव की मानसिक, वाचिक और कर्मात्मिक प्रवृत्तियाँ हैं। ये चेतन और अचेतन दोनों की प्रवृत्तियाँ हैं। जीव और पुद्गल दोनों अपनी-अपनी प्रवृत्तियों से कर्म उत्पन्न करते हैं। जीव और पुद्गल दोनों अपनी-अपनी प्रवृत्तियों से कर्म उत्पन्न करते हैं।

मुक्त, न राग-द्वेषादि भावों से युक्त सिद्ध होगा और न उनसे रहित ही। परन्तु सत्य तथ्य यह नहीं है। जैसे किसी रूपवान् युवक पर युवती मुग्ध होकर उसके पीछे हो जाती है वैसे जड़ पुद्गल चेतन आत्मा के पीछे नहीं लगते। पुद्गल अपने आप आकर्षित होकर आत्मा को पकड़ने के लिए नहीं दीडता। जीव जब सक्रिय होता है तभी पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। अपने को उसमें मिलाकर उसके साथ एकमेक हो जाते हैं, और समय पर फल प्रदान कर उससे पुनः पृथक् हो जाते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिए जीव पूर्णरूप से उत्तरदायी है। जीव की श्रिया ही पुद्गल परमाणु उसकी ओर खिंचते हैं, सम्बद्ध होते हैं और उचित फल प्रदान करते हैं। यह कार्य न अकेला जीव ही कर सकता है जीव न अकेला पुद्गल ही कर सकता है। दोनों के सम्मिलित और पारस्परिक प्रभाव से ही यह सब कुछ होता है। कर्म के कर्तृत्व में जीव की उभ्र प्राप्ति की निमित्तता नहीं है कि जीव साख्यपुरुष की भाँति निष्क्रिय अवस्थामें निर्लिप्त भाव से विद्यमान रहता हो और पुद्गल अपने आप कर्मों के फल में परिणत हो जाते हों। जीव और पुद्गल के परस्पर मिलने से ही फल की उत्पत्ति होती है। एकान्त रूप से जीव को चेतन और कर्म को जड़ नहीं कह सकते। जीव भी कर्म-पुद्गल के ससर्ग के कारण कथंचित् नहीं और कर्म भी चेतन्य के ससर्ग के कारण कथंचित् चेतन है। जब जीव कर्म एक-दूसरे से पूर्णरूप में पृथक् हो जाते हैं, उनमें किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता है तब वे अपने शुद्ध स्वरूप में आजाते हैं अर्थात् जीव एकान्त रूप में चेतन हो जाता है और कर्म एकान्त रूप से जड़।

मगसरी जीव और द्रव्यकर्म रूप पुद्गल के मिलने पर उभ्र प्रमाण ही जीव में राग-द्वेषादि भावकर्म की उत्पत्ति मगसरी है। परन्तु यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है और पुद्गल भी अपना स्वभाव का कर्ता है, तो राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता कौन है? मगसरी यदि भाव न ला जीव के शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत है और न पुद्गल के शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत है, अब उभ्र का कर्ता किसे मानें।

उभ्र का कर्ता - जीव आत्मा और अचेतन द्रव्यकर्म का मिश्रण ही उभ्र का कर्ता माना जाता है। भावों का कर्ता माना जाता है। मगसरी का मत है कि उभ्र का कर्ता जीव ही है, जो पुद्गल के फल को प्राप्त करता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेका, घाव हो गया, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल हेतुक विपाक उदय है।

किसी ने अपशब्द कहा, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गल का सहेतुक विपाक उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—बढ़िया भोजन किया किन्तु न पचने से अजीर्ण हो गया, उससे रोग उत्पन्न हुए यह अमात वेदनीय का विपाक उदय है।

मदिरा आदि नशीली वस्तु का उपयोग किया, उन्माद छा गया यह ज्ञानावरण का विपाक उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणाम-हेतुक-विपाक उदय है।

इस तरह विविध हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है।^१ यदि ये हेतु प्राप्त नहीं होते तो कर्मों का विपाक रूप में उदय नहीं होता। उदय का दूसरा प्रकार है प्रदेशोदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभा नहीं होता है। यह कर्मवेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म कदा होता है वह अवश्य ही भोगा जाता है।

गीतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! किये हुए पाप-कर्म भोग बिना नहीं छूटते, क्या यह सत्य है ?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—हाँ गीतम ! यह सत्य है।

गीतम ने पुनः प्रश्न किया—कैसे, भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गीतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बताये हैं (१) प्रदेश-कर्म और (२) अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म है वे भोग नहीं जाते हैं तथा जो अनुभाग-कर्म है, वे अनुभाग (विपाक) रूप में भोग जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।^२

^१ उदय-उत्पत्ति का अर्थ है।

^२ उदय-उत्पत्ति का अर्थ है।

उदय-उत्पत्ति का अर्थ है।

उदीरणा

गीतम ने भगवान से प्रश्न किया—भगवन् ! जीव उदीर्णः पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करत भगवान ने उत्तर दिया—गीतम ! जीव उदीर्ण की उदीरणा करता ।

जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता है ।

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है ।

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता

(१) उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की पुन उदीरणा की जाय तो उदीरणा की कही पर भी परि-समाप्ति नहीं हो सकती । अत उदीर्ण उदीरणा नहीं हो सकती ।

(२) जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा वर्तमान में नहीं प भविष्य में होने वाली है या जिसकी उदीरणा नहीं होने वाली है अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलो की भी उदीरणा नहीं हो सकती ।

(३) जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर परम वे शक्तिहीन हो गये, अत उनकी भी उदीरणा नहीं होती ।

(४) जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण उदीरणा-योग्य) है, उन्ही की उदीरणा होती है ।

उदीरणा का कारण

कर्म जब स्वाभाविक रूप में उदय में आते हैं तब नवीन पुन आवश्यकता नहीं होती । बन्ध स्थिति पूर्ण होने ही कर्म-पुद्गल में आ जाते हैं । स्थिति-क्षय में पूर्व उदीरणा द्वारा उदय में आया कर्म उदय विषय प्रयत्न या पुनर्प्राप्य की आवश्यकता होती है ।

गीतम ने विज्ञाया प्रश्न की—भगवन् ! अनुदीर्ण, कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ? उद्गमे उदयानन्तर कर्म-पुद्गलो की उदीरणा होती है उद्गमे उदयानन्तर कर्म-पुद्गलो की उदीरणा होती है ।

वाले पुद्गलो की वेदना नहीं होती और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्गलो की वेदना होती है।

निर्जरा

आत्मा और परमाणु ये दोनों पृथक् है। जब तक पृथक् रहते हैं तब तक आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु है। जब दोनों का संयोग होता है तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य-परमाणु जब आत्मा से चिपकते हैं तब वे कर्म कहलाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के पश्चात् वे अकर्म हो जाते हैं। अकर्म होते ही वे आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलगाव का नाम निर्जरा है।

औपचारिक दृष्टि से हम कहते हैं कि कर्मों की निर्जरा होनी है पर सत्य तथ्य यह है कि कर्मों के दलित फल देने के साथ ही आत्म रूप होने से बच जाते हैं, यही निर्जरा है।

कितने ही फल टहनी पर पक कर टूटते हैं तो कितने ही फल प्रायः से पकाये जाते हैं। दोनों ही फल पकते हैं किन्तु दोनों के पकने की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। जो सहज रूप में पकता है उसके पकने का समय कम होता है और जो प्रयत्न से पकाया जाता है उसके पकने का समय कम होता है। कर्म का परिपाक ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित कात-मार्गसम जो कर्म-परिपाक होता है, वह निर्जरा विपाही-निर्जरा कहलाती है। इसके लिए किसी भी प्रकार का नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उम्रिए वह निर्जरा न धर्म है और न अधर्म है।

निश्चित कात-मर्यादा से पूर्व शुभ-योग के द्वारा कर्म का परिपाक होता है निर्जरा होती है, वह अविपाही निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा मर्यादा है। उम्रिए हेतु, शुभ-प्रयास है। अतः धर्म है।

आत्मा पहले या कर्म ?

आत्मा पहले है या कर्म पहले है ? दोनों में पहले कीजिए और पीछे कीजिए ? यह एक प्रश्न है।

जवाब है आत्मा और कर्म दोनों अनादि हैं। कर्ममार्गों का अनादि होना अनादि का अनादि होना सम्भव है। प्रतिपन्न प्रतिक्षण भी अनादि है। अनादि अनादि है। अनादि भी अनादि नहीं, जिस समय आत्मा अनादि है, वह निर्जरा है। अनादि अनादि है आत्मा के साथ कर्मों का अनादि होना सम्भव है।

न कि व्यवितशः। अतः अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है, तप और सयम के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है, संचित कर्म नष्ट होते हैं और आत्मा मुक्त बन जाता है।^१

आत्मा बलवान् या कर्म

आत्मा और कर्म इन दोनों में अधिक शक्तिसम्पन्न कौन है ? क्या आत्मा बलवान् है या कर्म बलवान् है।

समाधान है—आत्मा भी बलवान् है और कर्म भी बलवान् है। आत्मा में भी अनन्त शक्ति है और कर्म में भी अनन्त शक्ति है। कभी जो काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।^२

वहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं, पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है, क्योंकि कर्म का कर्ता आत्मा है, वह मकड़ी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर उसमें उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी अधिक शक्तिशाली हों, पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।

लौकिकदृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है, किन्तु मुलायम पानी पत्थर के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। कठोर चट्टानी में भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। वीर हनुमान् को जब तक स्व-स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ तब तक वह नाग-पाश में बन्धा रहा, रावण की ठोकरे खाता रहा, अपमान के जहरीले घट पीता रहा, किन्तु ज्यों ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यों ही नाग-पाश को तोड़ फेंक दिया गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट् चेतना नहीं प्राप्त होती तब तक वह भी कर्मों को अपने में अन्तर्भाव मानता है, समझकर उनमें दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनमें मुक्त हो जाता है।^३

^१ अथवा पुनरुत्पत्ति, मज्जेमण तरेण य।

^२ यथा पञ्चदश, पातमणि मज्जिमणि ॥

^३ अथवा अथवा जीवा इत्यादि इत्यादि इत्यादि इत्यादि।

अथवा यथा इत्यादि य, पुनरुत्पत्ति इत्यादि यथा।

वेदपथी कवि सिंहलन मिश्र भी यही कहते हैं कि कही भी चने जाओ, परन्तु जन्मान्तर में जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो छाया के समान साथ ही साथ रहेंगे। वे तुम्हें कदापि नहीं छोड़ेंगे।^१

मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अवधिदर्शन वरण कर्म—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को स्वी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है उसे आच्छादित करता है। केवलदर्शनावरण कर्म सर्व द्रव्य और पर्यायो के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे मुक्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐं हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रानिद्रा कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न होती है जिसे मुक्त प्राणी कठिनाई से जाग सके। प्रचला—जिस कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न हो कि खड़े-खड़े और बैठे-बैठे भी नीद आये। प्रचला-प्रचला कर्म—जिसे चलते-फिरते भी नीद आये। स्त्यानधि—जिस कर्म से दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्य विशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढतम नीद।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देशघाती है और शेष छह प्रकृतियों में घाती है।^१ सर्वघाती प्रकृतियों में केवलदर्शनावरण प्रमुख है। जानास की तरह उसे भी समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है, वह केवलदर्शन का धारक बनता है। जब उसका क्षयोपशान्त होता है तब चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन प्रकट होता है।

प्रस्तुत कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटिांश सागरोपम की है।^२

वेदनीय कर्म

आत्मा के अव्यावृत्त गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय है। वेदनीय कर्म में आत्मा को मृग-द्रव्य का अनुभव होता है। उसके दो भेद हैं

१. दक्षिणार्धगणित कर्मोपपन्नम् ।

२. दक्षिणार्धगणित कर्मोपपन्नम् चक्षुःचक्षुःअवधिदर्शनावरणकर्म, मर्त्यगणितम् ।
निर्दोष-वर्णित दक्षिणार्धगणित कर्मोपपन्नम् ।

—आत्मा, १, १११

१. १११ १११ १११ १११ १११

१. १११ १११ १११ १११ १११

१. १११ १११ १११ १११ १११

प्रमाण- १११ १११ १११ १११ १११

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन^१ और प्रजापता^२ अन्तर्मुहूर्त की बताई है। भगवती^३ में दो समय की कही गई है।^४ दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मुहूर्त के अन्त का समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने में द्वैत विसंगति नहीं है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु तत्त्वावगमना^५ कर्मग्रन्थों में बारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है, जो साम्प्रदायिक आश्रय की अपेक्षा से है और भगवती में जो दो समय कही गई है वह ईश्वर पथ आश्रय की अपेक्षा में है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र तीस कोटाकोटि मूल की है।

मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा में मूढता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मों में यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है।^६ वह आत्मा के वीतराग भाव—युद्ध-स्वरूप—को विकसित करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होता है।^७ कर्म स्व-पर-विवेक में तथा स्वस्वरूपमण में बाधा समुपस्थित करता है।

उस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान मानव परवर्ण हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान न रहता, वह हिताहित के विवेक में विहीन हो जाता है। वैसे ही मोहनीय कर्म

१ उत्तरी मरिगनामाण तीसई कोटिकोटीओ ।

उत्तरीगिया ठिई होइ, अन्तामुहुत्त जहन्निया ॥

पाररणिज्जाण दुग्ध पि त्रेणणिज्जे नट्टेयय ।

यत्तमण यत्तमस्मि, ठिई त्थमा विपाट्ठिया ॥

प्रमाण २ । २५३-२४

२ मरिगनामाण दो समयया ।

(१) अथवा द्वादशमुहूर्तों वेदनीयम् ।

(२) उत्तरीयप्रवर्णय हा अन्तर्मुहूर्त विवक्षित ।

(३) अन्तर्मुहूर्त उत्तरीयप्रवर्णय अन्तर्मुहूर्त ।

— उत्तरीयप्रवर्णय अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त ।

(४) उत्तरीयप्रवर्णय अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त ।

(५) उत्तरीयप्रवर्णय अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त ।

है।^१ इनमें मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्मोहनीय देशघाती है और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है।

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्रमोह है। यह कर्म आत्मा चारित्र गुण को उत्पन्न नहीं होने देता।^३

चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं—(१) कपाय मोहनीय (२) नोकपाय मोहनीय।^४ कपाय मोहनीय के मोलह भेद है और नोकपाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद हैं।^५

कपाय मोहनीय—कपाय शब्द कप और आय से बना है। कप—समार और आय—लाभ, जिससे ससार अर्थात् भवभ्रमण की अभिवृद्धि है वह कपाय है।^६ क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में वह चार प्रमा का है। ये चार भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण

१ प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० १४-१६

२ (क) केवलणाणावरण, दसणछाकं कपायवारसय ।

मच्छ च मव्वघादी, मम्मामिच्छ अववम्हि ॥

—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १

(ग) तेव नणाणावरण दसणछाकं च मोहवारसय ।

ता सव्वघाडमग्गा भवन्ति मिच्छत्तवीसइम ॥

—ठाणाङ्ग २।६।१०५ टीका में उक्त

३ एव जीवस्य चारित्र गुणोऽस्त्येक प्रमाणसात् ।

तन्मोहयति यत्कर्म, तत्स्माच्चारित्रमोहनम् ॥

—पद्माभाषी १

४ (क) चरित्तमोहनं कम्मं, द्वितं त विपाहित्य ।

तस्मात्तमोहणं तु नोकपाय तदेव य ॥

—उत्तरागमन २११

(ग) प्रजापता २३।२

५ (क) मोहनिवृत्तिभेदण, कम्म तु कपायज ।

मन्तिरि नन्विट वा, कम्म च नोत्तमायज ॥

—उत्तरागमन ३११

(ग) प्रजापता २३।२

(ग) स्यात्ताङ्ग २।१००,

(ग) स्यात्ताङ्ग -१८

६ कम्म कम्म नरा ना, तस्मान्नामि तस्मात्ता ना ।

कम्म कम्म नरा ना, तस्मान्नामि तस्मात्ता ना ॥

—आवश्यक मन्त्रविधि १।१।१
विदितानुवर्तमानता ॥

(१८) आतपनाम—इस कर्म के उदय में अनुष्ण शरीर में से प्रकाश निकलता है ।^१

(१९) उद्योतनाम—इसके उदय से शरीर शीतप्रकाशमय हो जाता है ।^२

(२०) विहायोगतिनाम—इसके उदय से जीव की अच्छी व कु गति (चाल) होती है। इसके भी दो भेद हैं—(क) प्रगस्त-विहायोगति नाम (ख) अप्रगस्त-विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।

(२१) वसनाम—जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।

(२२) स्थावरनाम—जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

(२३) सूक्ष्मनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को अप्रतिम सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो।

(२४) वादरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को प्रतिम स्थूल शरीर की उपलब्धि हो।

(२५) पर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयं पर्याप्त पूर्ण करे।

(२६) अपर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय में जीव स्वयं पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके।

(२७) साधारण शरीरनाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।

(२८) प्रत्येक शरीरनाम—जिस कर्म के उदय में जीवों को निःशरीर शरीर की प्राप्ति हो।

(२९) स्थिर नाम—जिस कर्म के उदय में हृद्, दात, मांस प्राप्ति स्थिर यथास्थान रहे।

(३०) अस्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से हृद्, मांस प्राप्ति अस्थिर यथास्थान आदि अस्थिर रहे।

^१ प्रकाश कर्म का उदय गर्म मांस के परिनिष्पन्न जीवों में होता है। इसी प्रकार प्रकाश उदय होता है।

^२ शीत प्रकाश उदय शरीर में, यथास्थान मांस प्राप्ति में होता है।

□ विश्वदर्शन : एक अनुचिन्तन

- भारतीयदर्शन
- वैश्वदर्शन
- चार्वाकदर्शन
- जैनदर्शन
- बौद्धदर्शन
- साम्प्रदायिक और योगदर्शन
- न्याय और वैशेषिकदर्शन
- मीमांसा और वेदान्त दर्शन
- मृत्तान्तदर्शन
- श्रद्धादर्शन
- मृत्तान्तप्रकाश
- मृत्तान्तदर्शन
- न्यायदर्शन म न्याय गुण

दार्शनिक भी। उनका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त था कि सत्य के दो भेद हैं—
रूढि और वास्तविक। “रूढिसत्य की अपेक्षा वास्तविकसत्य श्रेष्ठ है। उस
प्राप्त करना ही एक मात्र मानव-जीवन का लक्ष्य है।” भारतवर्ष में
वेदान्त ने सत्ता के व्यावहारिकसत्ता और पारमार्थिकसत्ता, ये दो भेद किये
हैं। बुद्ध ने सत्य के सवृत्तिसत्य और परमार्थसत्य, ये दो भेद किये
हैं। जैनदर्शन ने व्यवहारनय और निश्चयनय ये दो भेद किये हैं। मोक्ष
सन्त के विचारों में भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध के विचारों में
अत्यधिक समानता है।

यूनानीदर्शन में सोफी मन्त्रों के पश्चात् एक नवीन परिवर्तन हुआ।
उस परिवर्तन के करने वाले तीन महान् व्यक्ति थे—यथार्थवादी सुकरात,
बुद्धिवादी अफलातून (प्लेटो) और वस्तुवादी अरस्तू। सुकरात ने यूनान
में सर्वप्रथम यह उद्घोषणा की कि विज्ञान ही धर्म है अर्थात् जो कुछ भी
विचार है वही आचार है। भगवान् महावीर ने पाँच आचारों का वर्णन
किया है उसमें एक ज्ञानाचार भी है। भगवान् महावीर ने पश्चिमोत्तरी
पूर्व भारत में जो बात कही वही बात ईसा में तीन शताब्दी पूर्व सुकरात ने
यूनान में कही। स्वयं सुकरात ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उसके उपदेशों
को उसके शिष्य प्लेटो ने बाद में लिपिवद्ध किया था। यह परम्परा भारत
में बहुत ही प्राचीन काल में रही है। भगवान् महावीर ने जो उपदेश
किया, उन्हीं गणधरो ने सूत्र रूप में रचना की। बुद्ध ने जो कुछ कहा, उस
आनन्द ने त्रिपिटक का रूप प्रदान किया। सुकरात का शिष्य अरस्तू
सुकरात के मिलने के पूर्व ही माहिल्य, मगीन और चित्रकूटा में निष्ठा
था। सुकरात के सम्पर्क में आने के पश्चात् उसका ध्यान दर्शन की ओर
गया। उसका यह अभिमत था कि जब तक राज्य के शासनमूल्य दार्शनिक
नहीं होते तब तक समाज और राष्ट्र में अन्धकार और अनीति
रहती ही होगी। इसी विचार के आधार पर प्लेटो ने यूरोप में
राज्य की। जिसका तात्पर्य था, दार्शनिकों का राज्य। यही राज
न्याय था। प्लेटो का शिष्य अरस्तू था। वह सुकरात की तरह यथार्थ
वादी नहीं था और न प्लेटो के समान बुद्धिवादी ही, किन्तु वह अन्धकार
का शिष्य था और विश्व-विज्ञान मिस्र के राजा से
वह दार्शनिक रूप में विज्ञान अधिक था। वह महान् भक्त था।
जैन दर्शन में यह विचार है कि जैन धर्म ही समाज और राष्ट्र का

अध्रुवबन्ध—जिस बन्ध की आगामी काल में कमी व्युच्छिति होगी, ऐसे जीवों के कर्मबन्ध को अध्रुवबन्ध कहते हैं ।

अध्रुवबन्धिनी—बन्ध कारणों का सम्भाव होने पर भी जिन प्रकृतियों का कदाचित् बन्ध होता है, कदाचित् नहीं भी होता है, उन्हें अध्रुवबन्धिनी कहते हैं ।

अध्रुवोदय—उदय-व्युच्छिति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्री के निमित्त जिनका उदय पुनः संभव है, ऐसी माता वेदनीयादि प्रकृतियों को अध्रुवोदय कहते हैं ।

अनन्त—आय-रहित और निरन्तर व्यय-महित होने पर भी जो राशि सम्पत्ति समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं । अथवा जो राशि एक मास केवलज्ञान से ही विषय हो वह अनन्त है ।

अनन्तवीर्य—वीर्यनिर्गम्य कर्म का सर्वथा क्षय होने पर जो अप्रतिहत सामग्री उत्पन्न होती है, उसे अनन्तवीर्य कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी—जिसका उदय होने पर सम्पत्तिदर्शन उत्पन्न नहीं होता है और यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है, उसका नाम अनन्तानुबन्धी है ।

अनन्त भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कथाओं को अनन्तानुबन्धी कथा कहते हैं ।

अनपवर्तनीय—आयु कर्म की जितनी स्थिति बाँधी गई है उतनी ही स्थिति वेदन करना व अपने काल की अवधि के पूर्व उसका विधान नहीं होता, उसका नाम अनपवर्तनीयता है । अभिप्राय यह है, अनपवर्तनीय आयु वह काल है जिसका विधान पूर्व जन्म में बाँधी गई स्थिति के पूर्व किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता ।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उद्भव व नश्वरों का अथर्वान उत्पन्न होता है, उसे अनभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं ।

अनाकारोपयोग—दर्शनोपयोग ।

अनाभिग्रहित मिथ्यात्व—सभी मन-मनान्तर अन्तर्गते हैं, इस प्रकार की मिथ्यात्व मानने से मानने को अनाभिग्रहित मिथ्यात्व कहते हैं ।

अनिर्वाचित—निर्वाचित से विपरीत अर्थात् जिन कर्म प्रशङ्गा या प्रवृत्ति परमाणु, सत्प्रमाण या उद्दीष्टता की जा सकें, उन्हें अनिर्वाचित कहा है ।

अनेकान्त—एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अनेकान्त प्रमाणों के बिना ही निर्वाचित प्रमाणों को अनेकान्त कहा है ।

अन्यथायुक्त—जो कर्म दाना और अन्य भावों से ही प्राप्त होता है, उसे अन्यथायुक्त कहा है ।

अन्य मुख्य परमाणु या मुख्यता की अन्य मुख्यता है ।

अन्य मुख्यता की अन्य मुख्यता है ।

अवाय-अपाय—भापादि-विशेष के ज्ञान से यथार्थ रूप में जानना, अर्थात् अवाय है। कहीं-कहीं पर उसका उल्लेख अपाय शब्द से भी हुआ है।

अविग्रहगति—विग्रह का अर्थ रुकावट या कुटिलता होता है तदनुसार जो जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होती है उसे अविग्रहगति कहते हैं। एक समय वाली ऋजुगति या उपगति का नाम अविग्रहगति है।

अविपाक निर्जरा—जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, तत्पश्चात्तरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में कराके आम्नादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

असातावेदनीय—जिस कर्म का वेदन-अनुभवन परिताप के साथ किया जाता उसे असातावेदनीय कहते हैं।

अस्तिकाय—जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

आकाश—जो सब जीवों को तथा शेष—धर्म, अधर्म और काल एव पुरुष को भी स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

आगम—पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन को आगम कहते हैं।

आवाधाकाल—कर्म रूप से बन्ध को प्राप्त हुआ द्रव्य जितने समय तक उस या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता उतने काल का नाम आवाधा या आवाधा काल है।

आभिग्रहिक—यही दर्शन (सम्प्रदाय) ठीक है अन्य कोई भी दर्शन ठीक नहीं है, उस प्रकार के कदाग्रह से निमित्त मिथ्यात्व का नाम आभिग्रहिक है।

आभिमन्योधिक—अभिगुण और नियमित पदार्थ के उन्मिष और मन के माँ जानने को आभिमन्योधिक ज्ञान कहते हैं। यह मनोज्ञान का नामान्तर है।

इन्द्रिय—परम पश्यय को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और इन्द्रिय ज्ञान या ज्ञान का इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ की उपनिधि में निर्मित होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

ईर्ष्यापर्याय—ईर्ष्या का अर्थ योग है। एक माय उस योग के द्वारा प्राप्त होता है जो ईर्ष्यापर्याय है। उस ईर्ष्यापर्याय की कारणभूत क्रिया को ईर्ष्यापर्याय कहते हैं।

ईश्वर—जिसका आश्रय होता है तत्पश्चात्तरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में कराके आम्नादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

ईश्वर—जिसका आश्रय होता है तत्पश्चात्तरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में कराके आम्नादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

उन्मिष—जिसका आश्रय होता है तत्पश्चात्तरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में कराके आम्नादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

उदार का अर्थ स्थूल द्रव्य होता है, उस स्थूल द्रव्य में जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं ।

कर्म—अज्ञतचूर्ण में परिपूर्ण दिव्य के समान सूक्ष्म व स्थूल आदि अन्त पुद्गलों में परिपूर्ण लोक में जो कर्मरूप परिणत होने योग्य नियत पुद्गल जीवपरिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के घातक (ज्ञानावरण-दर्शनावरण) तथा सुप्त-दुःख, सुप्त-अणुम आयु, नाम, उच्च व नीच गान और अन्तर्गत रूप पुद्गलों का कर्म कहा जाता है ।

कपाय—कर्म अथवा समार को कप कहा जाता है । उस प्रकार के कप अथवा कर्म या समार को जो प्राप्त करवा करते हैं उनका नाम कपाय है ।

कामेण शरीर—जो सब शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है—उत्तम कारण है—उसे कामेण शरीर कहते हैं । अथवा कर्म के विकारभूत या कर्मरूप शरीर का नाम कामेण है ।

काल—जो पाच वण, पाच रस, दो गन्ध, एक आठ स्पर्शों में रहित और छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप अगुणवधु गुण में संयुक्त होकर वर्तना—स्वयं परिणामोद्भूत द्रव्य के परिणामन महत्कारिणा—वक्ष्य वाला है उसे काल कहते हैं ।

केवलज्ञान—जो ज्ञान केवल—मतिज्ञानादि में रहित, परिपूर्ण, अमाशरण, अज्ञ ही अपना में रहित, विमृष्ट, समस्त पदार्थों का प्रकाशक और अलोक के माय समस्त तत्त्व का ज्ञाता है, उसे केवलज्ञान कहा जाता है ।

केवलदर्शन—आशरण का पूरणया क्षय हो जाने पर जो बिना किसी अज्ञ ही गतापना के समस्त भूत-अभूत द्रव्यों को सामान्य में जानता है वह केवलदर्शन है ।

क्षय—तर्मा ही आत्यन्तिक निवृत्ति का—सर्वथा अमान हो—क्षय कहा है ।

छप्रस्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का नाम छप्र है । उस छप्र में जो विराट् होता है, उसे छप्रस्थ कहते हैं ।

जिन—जिज्ञान शब्द-द्वेष का जीवन विद्या है, वे जिन हैं ।

जप—जो आठ प्रकार के कर्मरूप मातृ को गन्तव्य करना है, उसे जप कहा है ।

नेत्रय शरीर—समार । प्राणिया । आशरण का पात्रक या उष्णताम्ब ॥ १ ॥

अस्मन्नाम—जिन सब के उद्भव में जीति-दमादि जीवा में जन्म होता है वही अस्मन्नाम ।

अस्मन्नाम—जिन सब के उद्भव में जीति-दमादि जीवा में जन्म होता है वही अस्मन्नाम ।

अस्मन्नाम—जिन सब के उद्भव में जीति-दमादि जीवा में जन्म होता है वही अस्मन्नाम ।

निकाचित—कर्म के जिस प्रदेश पिण्ड का न अपकर्षण हो सकता है, न प्रकृति रूप मक्रमण हो सकता है और न उदय हो सकता है उसे निकानित कहा जाता है ।

निक्षेप—लक्षण और विधान (भेद) पूर्वक विस्तार में जीवादि तत्त्वों के रूप के लिए जो न्याय-नाम स्थापनादि के भेद में विरचना या निक्षेप किया जाता है — निक्षेप कहते हैं । अर्थात् द्रव्याधिक व पर्यायाधिक उन दोनों नयों का विग्रहण नन्वाश्रय के ज्ञान का हेतु है वह निक्षेप है । उसका प्रयोजन प्रस्तुत ही न्याय में मगय को दूर करना है ।

निगोद—जीवों के आश्रय विशेषों का नाम निगोद है ।

निद्रा—मद, मेद व अकावट को दूर करने के लिए जो मगय किया जाता है उसे निद्रा कहते हैं ।

निधत्त—जो कर्म का प्रदेश पिण्ड न तो उदय में दिया जा सके और न ही प्रकृतियों में मक्रमण भी किया जा सके उसे निधत्त या निधत्ति कहा जाता है । अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना करणों की छोटकर शेष करणों के अयोग्य रूप में जानने को व्यवस्थापित किया जाता है उसे निधत्तिकरण कहते हैं ।

नियतिवाद—जो जिस समय में, जिसमें जैसे और जिसके नियम में होता है वह उस समय, उसी के द्वारा, उसी प्रकार में और उसके होगा ही, उस प्रकार व उसी का नियतिवाद कहते हैं ।

निजरा—बँधे हुए कर्मा के प्रदेश पिण्ड के गलने का नाम निजरा है ।

निर्माण—परमन्वासा की निवृत्ति अवस्था शुद्ध आत्म-तन्त्र की उपर्याप्त परिणति कहा है ।

निश्चयपत्र—गन्ध द्रव्य के निष्पण करने वाले नय का निश्चय पत्र या पत्र कहा है ।

नील गात्र—जिस समय में उदय व चारुनिन्दित कुतों में जन्म हो उस गात्र को नील गात्र कहा है ।

नारायण—जो प्रती उपर्यक्त नहीं होता है—मनिय में उपर्यक्त होता जाता है ।

नारायण प्रत्यक्ष—नियम व विधान—उद्देश्य आदि की मगयता व चारु—

नारायण प्रत्यक्ष—नियम व विधान—उद्देश्य आदि की मगयता व चारु—

नारायण प्रत्यक्ष—नियम व विधान—उद्देश्य आदि की मगयता व चारु—

नारायण प्रत्यक्ष—नियम व विधान—उद्देश्य आदि की मगयता व चारु—

सूक्ष्म—जो स्वयं किसी द्वारा बाधित न हो और न दूसरे को कोई बाधा पहुँचाये वे पदार्थ या जीव सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत स्थूल या बाधक हैं। इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को स्थूल और उन्मिदिय अग्राह्य को सूक्ष्म कहना व्यवहार है, परमार्थ नहीं। सूक्ष्म और बाधकपन में न अवगाहना की हीनाधिकता कारण है, न प्रदेशों की, उन्मिदिय नाम कर्म ही कारण है। सूक्ष्म स्कन्ध व जीव लोक में सर्वत्र भरे हुए हैं पर मृत आचार के बिना न रहने के कारण तम नाली के यथायोग्य स्थानों में ही पाये जाते हैं।

स्थापना निक्षेप—‘यह वही है’ उस प्रकार अन्य वस्तु में बुद्धि के द्वारा अन्य का आरोपण करना स्थापना निक्षेप है।

स्थावर—पृथ्वी, अप आदि काय के एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थिर रहने के कारण जयवा स्थावर नाम कर्म के उदय में स्थावर कहलाते हैं। ये जीव सूक्ष्म और बाधक दोनों प्रकार के होते हैं। सर्व लोक में पाये जाते हैं।

स्याद्वाद—अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अजम्बू होने में प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को मुनने हुए श्रोता को अन्य धर्म भी गौण रूप में स्वीकार होने से उतावले न होने पावे उस प्रयोजन में अनेकान्तवादी अपने वाक्य के साथ स्यात् या न स्यात् शब्द का प्रयोग करना है।

स्वाध्याय—अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।

आचार्य कमलशील २०५

आचार्य कुन्दकुन्द ३६, ५६, १४८, २४३, २६२, २६३, ३०६, ३६६

आचार्य जितभद्रगणीक्षमाश्रमण ३६२

आचार्य नागमेत ८१

आचार्य नागार्जुन १४, १६, २२, २५, ६६, २७५

आचार्य निम्बार्क १०१, १०४, १५५

आचार्य नेमिचन्द्र ३६, ६८, ७०, १८६

आचार्य पतञ्जलि ६१, १५४, २१८

आचार्य पात्रकेयरी २५

आचार्य पुज्यपाद २४, २०४, ३६०

आचार्य भद्रबाहु २०, ३५४, ३७६

आचार्य भाम्हर १०१, १०२, १०५

आचार्य मन्व ५०, १०१, १०५, १५५

आचार्य मलयगिरि २४, ७०, ४११

आचार्य माणिस्यनन्दी १३५, ३८४, ३६२

आचार्य मन्त्रवादी २५

आचार्य मणिपिण २७, २५३

आचार्य रामानुज १६, ५०, ५५, १०१, १०४, १५५, २३६

आचार्य विनोद २४३

आचार्य विद्यापति ३८२, ३८५

आचार्य श्रीरंग १६६, ३६७

आचार्य ज्ञानम १६६

आचार्य गंगाधर १००

अभिधर्मदीप और उनके टिप्पण

अनुयोगद्वारा

अ यात्ममार्ग

अगुनरनिहाय

अष्टक प्राग्ग

अभि गान चिन्तामणि होत

अनुयोगद्वारा (पुण्यविजय जी)

अष्टनवी

अष्टमहमी

अन्नायोग्यवन्त्येदिता

मनोह ने पत्नी—(डा हजारीप्रसाद द्विवेदी)

महाराणी—मन्मथि जानपीठ, आगरा

आदर्श निर्माता

॥ ममीमाणा- -- (प० दत्तमुग मानवणिगा)

॥ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

११७५४३२

समयसुग का जैन दर्शन—(प० दत्तसुग मातृवर्णिका)

॥ ३०५ ॥ श्रीगणेशाय नमः

117 : 117

1977

१०४ २३ म । रमिनि नृपति

2 1075 11 28 11

1000 3 10 10 10 10

11

2. "I have not seen any of the other children."

1994

तत्त्वानुयामत

तन्वसग्रहपजिका

नरुं नाया

नन्वार्थ---श्रुतमागगेया वृत्ति

तत्त्वार्थभाष्य टीका

नन्वार्थसूत्र

नन्वमग्रह पजिका

नैतिगीय उपनिषद्

नन्वमगह

नन्वमग्रह की बहिर्ग्रह परीक्षा

नेजोबिन्दु उपनिषद्

तन्मूलवेयालिय

नन्वायं गजरातिर

नरसिंहगढ़

नन्वां गुर—मर्वायमिदि

गङ्गा सिन्धु - गङ्गा सिन्धु

तन्त्राभंगम—शोकसाधक

આવશ્યક—૫૦ મુદતના જો

१. रा. १०१४—हस्तिप्रशियायुनि

י' תשרי תרמ"ד

• ॥ १५५॥ -- मित्रमन्त्रिणी दीक्षा

• ११११ (अमृतान्तर मूर्ति, गणेशप्रकार दर्शी प्रमाणान्तर)

1897

י, ארבעה עשר יום ימים ימים, ימים ימים

7 - 8, 10, 11, 12, 13

2

25 x f (1 - (17, 21 1777 17)

444

..

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35 36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100 101 102 103 104 105 106 107 108 109 110 111 112 113 114 115 116 117 118 119 120 121 122 123 124 125 126 127 128 129 130 131 132 133 134 135 136 137 138 139 140 141 142 143 144 145 146 147 148 149 150 151 152 153 154 155 156 157 158 159 160 161 162 163 164 165 166 167 168 169 170 171 172 173 174 175 176 177 178 179 180 181 182 183 184 185 186 187 188 189 190 191 192 193 194 195 196 197 198 199 200 201 202 203 204 205 206 207 208 209 210 211 212 213 214 215 216 217 218 219 220 221 222 223 224 225 226 227 228 229 230 231 232 233 234 235 236 237 238 239 240 241 242 243 244 245 246 247 248 249 250 251 252 253 254 255 256 257 258 259 260 261 262 263 264 265 266 267 268 269 270 271 272 273 274 275 276 277 278 279 280 281 282 283 284 285 286 287 288 289 290 291 292 293 294 295 296 297 298 299 300 301 302 303 304 305 306 307 308 309 310 311 312 313 314 315 316 317 318 319 320 321 322 323 324 325 326 327 328 329 330 331 332 333 334 335 336 337 338 339 340 341 342 343 344 345 346 347 348 349 350 351 352 353 354 355 356 357 358 359 360 361 362 363 364 365 366 367 368 369 370 371 372 373 374 375 376 377 378 379 380 381 382 383 384 385 386 387 388 389 390 391 392 393 394 395 396 397 398 399 400 401 402 403 404 405 406 407 408 409 410 411 412 413 414 415 416 417 418 419 420 421 422 423 424 425 426 427 428 429 430 431 432 433 434 435 436 437 438 439 440 441 442 443 444 445 446 447 448 449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000 1001 1002 1003 1004 1005 1006 1007 1008 1009 1010 1011 1012 1013 1014 1015 1016 1017 1018 1019 1020 1021 1022 1023 1024 1025 1026 1027 1028 1029 1030 1031 1032 1033 1034 1035 1036 1037 1038 1039 1040 1

न्यायकोष
 नन्दीमुद्र (पुण्य विजयजी म सम्पादित)
 न्यायविन्दु
 न्यायसाध्य
 न्यायावतार
 नियमसार
 न्यायविनिश्चय टीका
 न्यायमजरी
 नवतन्त्रमाह्निक संग्रह
 न्यायोपदेश
 नयग्रहस्य
 नयकणिका
 न्यायबु मुद्रचन्द्र
 नयोपदेश
 न्यायावतार टीका--(सिद्धपिगणी)

युनिन स्तह प्रपुष्णी मिद्वान्न चन्द्रिका
 योगदर्शन
 योगदर्शन भाष्य
 योगदर्शन तत्त्व वैशाखदी
 योगदर्शन भस्वती टीका

लोक प्रकाश
 तपीयस्त्रय

विश्वदर्शन ती रूपरेखा — (प विजयमुनि)
 बृहदारण्यक उपनिषद्
 विष्णुद्रिमणो
 बृहद्नयचक्र
 विजयारण्यक भाष्य
 वेदान्त मूर्ति मञ्जरी
 नैधेपितमून
 विज्ञान ती रूपरेखा
 तत्त्वतान्त्र
 विजयारण्यक भाष्य
 तत्त्वभाष्य
 विजयारण्यक भाष्य मूर्ति



४

एक 'पुस्तक' ने योग्य शिष्य का शसनीय काम है मारा ।
 जिसने लिया समुपान जग को कोष्ठ लेवनी के द्वारा ॥

५

नेता ने गुरु, नेतक ही कृति, लेखक है यश के भागी ।
 नि-अन्येता महावीर के अगर बनेंगे अनुरागी ॥

६

अभिनन्दन "नन्दन मुनि" करता लिय करके लघु मम्मति एक ।
 तथा उसका स्पर्श बहुत ही आकर्षक इस कृति को देव ॥

—चदन मुनि

'महावीर अनुशीलन' पढ़कर नहीं हर्ष का पार रहा ।
 एक एक पक्ति में कितना, मरा पड़ा है गार अहा ॥
 तन भी सुन्दर मन भी सुन्दर, मचमुच अनुपम भव्य निगार ।
 करना ही होगा वेशक सबको यह, मत्य तथ्य स्वीकार ॥
 कितनी निष्ठा, कितने श्रम से लिया गया यह शोध प्रग्रन्थ ।
 महावीर पर ग्रन्थ बहुत पर, ऐसे थोड़े मौलिक ग्रन्थ ॥
 लेखक का अभिनन्दन करने, हृदय रहेगा कैसे मौन ?
 गुणियो का आदर नहीं करता, उमसा कहो अभागा कौन ?
 कलम कलाधर मुनि देवेन्द्र शास्त्री का है अभिनन्दन ।
 अभिनन्दन है, अभिनन्दन है, 'कमल' पुन है अभिनन्दन ॥

—मुनि महेन्द्र कुमार 'कमल'

७

भगवान महावीर अनुशीलन, पुस्तक बड़ी अतूठी है ।
 गरमरी निगाह से देगी हमने कोई बात नहीं झूठी है ॥

८

"शास्त्री" श्री देवेन्द्र मुनि जी, कमनीय नेता कहलाते ।
 गान्धिविरोधन से सदा-सर्वदा, अपना हाथ बड़ाते ॥

९

महा महावीर ने जान आपका जोषपूर्ण है मन्त्र पडा ।
 मन्त्रित है सदा जीवन मन्त्रमुच ही है वर-वरा ॥

१०

महा महावीर ने जान आपका जोषपूर्ण है मन्त्र पडा ।
 मन्त्रित है सदा जीवन मन्त्रमुच ही है वर-वरा ॥

